अबला

भारतीय हिंदू-बहनों के कर-कमलों में

—रमाशंकर सक्सेना

भूमिका

प्रिय बहनो !

संसार में अनेकों पुस्तकें लिखी गईं और लिखी जायँगी, पर उनमें कितनी ऐसी हैं, जो स्त्री-जीवन के सुधार और उसकी स्वतंत्रता से संबंध रखती हों ? भारतवर्ष-भर में सैकड़ों उत्तमोत्तम लेखकों के रहते हुए भी हिंदुओं के गार्हस्थ्य जीवन और विशेषकर हमारी बहनों की दुर्दशा का दिग्दर्शन करानेवाली बहुत कम पुस्तकें हैं। भारतीय हिंदू-नारी की स्वतंत्रता हमारी विचार-धारा से बहुत दूर का विषय हो गई है। हम उसे सोचना भी नहीं चाहते। कैसा अन्याय है !

बड़े-बड़े नेता साल में कई बार भारतवर्ष का चक्कर काटते हैं, किंतु कितने ऐसे हैं, जिन्होंने सीमा-प्रांत में जाकर वहाँ की हिंदू-जनता और विशेषकर स्त्री-समाज की दशा देखी हो। वे केवल लाहौर, मुलतान और पेशावर से लौटकर चले जाते हैं, क्योंकि यहाँ तक सुगमता से रेल द्वारा जाया जा सकता है। वहाँ के लोग अपना दुख-सुख मुसलमानों के अत्याचार और सरकार के कोप से न तो पत्रों में भेज सकते हैं, न किसी से कह ही सकते हैं। यों तो हिंदू-समाज के साथ मुसलमानों की निर्दयता, कठोरता और अत्याचार ऐसी सीमा तक पहुँच

चुका है कि उससे अधिक संसार-भर में कहीं नहीं हो सकता। परंतु अभी हाल में मुसलमानों ने हिंदू-स्त्रियों को धोखे से उड़ा ले जाकर पतित करने का एक ऐसा विचित्र ढंग निकाला है, जिससे हिंदू-स्त्रियों को होशियार कर देना बहुत ज़रूरी है। इसी उद्देश्य से मैंने यह पुस्तक लिखी और अपनी हिंदू-बहनों को समर्पित की है।

यदि एक भी हिंदू-कन्या इस पुस्तक के पढ़ने से अपना कर्तव्य समझ लेगी और स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये लड़ेगी, तो मेरा लगभग एक साल तक सरहदी सूबे में रहना और पुस्तक लिखने का परिश्रम सफल हो जायगा।

भवदीय

रमाशंकर सकसेना

(२२ अगस्त, १९२६)

विषय-सूची

अबला

गार्हस्थ्य जीवन

लाला दीनदयाल इसलामाबाद में नौकर थे। उन्हें नौकरी करते-करते बीस वर्ष हो चुके थे। उनका स्वभाव और रहने-सहने का ढंग सादा था। कचहरी का काम निबटाकर, शाम को रोज़ाना घर आ, कपड़े बदलकर, कुछ नाश्ता कर टहलने जाते और रात के भोजन के पश्चात् आर्य-समाज चले जाते थे। उनके विचार कट्टर आर्य-समाजियों के-से थे। दैव-गति से उनकी धर्मपत्नी कट्टर सनातनधर्मिणी थीं। विवाह छोटी उम्र में होने के कारण उनकी स्त्री का प्रभाव उन पर ज़रूरत से ज्यादा था। वह जो चाहती थीं, करती थीं, और जो मन में आता था, उसे, चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय, बग़ैर किए नहीं मानती थीं।

दीनदयालजी की दो पुत्री शीला और कला थीं। शीला की शिक्षा का प्रबंध अच्छा कर दिया था। किंतु जब उसकी उम्र सोलह साल की हो गई, तो उन्हें मजबूरन् पाठशाला से उठाना पड़ा। रोज़ाना की चैं-मैं उन्हें बुरी लगती थी। जब तक शीला पाठशाला में पढ़ती रही, उनकी स्त्री नाराज़ होने के सिवा और कुछ नहीं जानती थीं। कुछ तो लालाजी की हठ और कुछ शीला की योग्यता, दोनो के सहारे शीला पढ़ती रही। उसने अपनी इस छोटी-सी उम्र में हिंदी और उर्दू का ज्ञान काफ़ी कर लिया था। रामायण, महाभारत और अनेक पुस्तकें पढ़ ही नहीं लेती थी, बल्कि उनका अर्थ भी कर लेती थी। पाठशाला में सब लड़कियों से तेज़, होशियार और सुंदर थी। विद्या के प्रभाव से उसका रूप दूना मालूम होता

था। आयु भी उस दर्जे पर पहुँच चुकी थी, जिसमें मामूली लड़की की भी सुंदरता अधिक लगने लगती है।

विवाह का ज़िक्र यों तो रोज़ाना लालाजी की स्त्री किया करती थीं, लेकिन अपनी इधर-उधर की बातों और पाखंडों में कोई कमी नहीं करती थीं। जिस दिन से शीला ने पढ़ना छोड़ा, बेचारी को नित्य नए पाखंड करने पड़ते थे। कभी चिड़ियाँ चुगाती थी, कभी दातुन करती थी। जाड़े का मौसम आते ही उसकी माता ने 'कतकी का नहाना' आरंभ कर दिया। वह पूरी तपस्या थी। सबेरे तारों की छाँह उठना और ठंडे पानी से नहाना पड़ता एवं सूर्य निकलने तक पूजा करनी पड़ती थी। उसके बाद तुलसीजी को जल देना पड़ता था। चार महीने पाखंड था।

एक दिन शीला की तबियत ज़रा खराब हो गई। ज्वर भी आ गया, किंतु सबेरे का नहाना अवश्य था। बातों-बातों में अपनी माता से पूछने लगी कि ऐसा करने से क्या लाभ है!

माताजी ने यह कहकर कि तुझे क्या पड़ी है, टाल दिया, और अपने धंधे में लग गईं।

लाला दीनदयाल कचहरी से आकर, कपड़े बदल खाट पर बैठे ही थे कि उनकी धर्मपत्नी पीढ़ा बिछाकर पास बैठ गईं। कला भी आ गई, परंतु उसकी माता ने 'जाओ, शाम के खाने की तैयारी करो' कहते हुए दो-चार ऊपर के काम और बतला दिए। लालाजी चुपचाप बैठे ही थे, लेकिन उनकी धर्मपत्नी ने बात छेड़ ही दी, और बोलीं—"तुम्हें कैसे नींद आती है!"

"क्यों, खाटों में खटमल तो हैं नहीं, अभी नई बुनी गई हैं।"

"मैं ढब की बात कर रही हूँ, तुम अपनी हँसी में मग्न हो। तुम्हारे जितने रिश्तेदार, संबंधी हैं, किसी के भी सोलह साल की कुँवारी लड़की है? ज़माना बुरा है। दूसरे, मुसलमानों का पड़ोस है, तीसरे

कल की ख़बर नहीं, अगर शीला के हाथ पीले हो जायँ, तो सुख की नींद सोऊँ।"

"ऐसी क्या जल्दी पड़ी है। अभी मदरसा छोड़ा है। धीरे-धीरे सब काम हो जायगा। हाँ, यह तो बतलाओ कि तुमने कोई लड़का भी ढूँढ़ा है?"

"लड़का मैं ढूँढ़ती, यह तो मर्दों का काम है। शीला के लाला, तुम मेरी बात नहीं मानते हो, तुमने मुझे पागल समझ रक्खा है। इतनी बड़ी लड़की कहीं दुनिया के परदे पर कुँवारी देखी भी है। शीला के साथ की सब ब्याह गईं। तुम इस कान सुनते हो और उस कान से निकाल देते हो।"

लालाजी ज़रा हँसे, और खाट पर लेटते हुए कुछ सोचने लगे। उनकी धर्मपत्नी ने पूछा—"क्या तुमने भागमल को देखा है। लड़का पढ़ा-लिखा है। घर भी अच्छा है। वैसे तंदुरुस्त भी है। शीला के लिये इससे अच्छा वर मिलना कठिन है। मेरी राय पूछो, तो पंडित से अच्छी घड़ी दिखाकर अब की नवरात्र में ही सगाई भेज दो। रही कला, उसकी भी कहीं दूसरी जगह जल्दी ही तय कर लेंगे।"

"भागमल, वही लड़का न, जो कुछ दिन हुए, एक बरात में आया था। उसकी उम्र सत्रह साल की होगी। पढ़ा-लिखा क्या है, ऐसे तो दुनिया पढ़ी है। आठवीं से पढ़ना छोड़ दिया है। लाला प्रभुदयाल से मैं ख़ुद मिला था, वह ब्याह के लिये तैयार हैं; परंतु उनकी शर्त बड़ी टेढ़ी है। छ हज़ार दहेज़ माँगते हैं।"

"क्या हर्ज है। परमात्मा ने दिया है। हमारे कोई और है, ये ही दो लड़कियाँ हैं। अब न दिया, फिर देंगे। मैं तो समझ रही थी कि लाला प्रभुदयाल ज़्यादा माँगते होंगे।"

लालाजी को आश्चर्य हुआ, और अपनी धर्मपत्नी की ओर देखकर बोले—"इससे ज़्यादा और क्या माँग सकते थे। लड़का भी क़ाबिल

नहीं है। शीला की प्रारब्ध इतनी पोच कि एक अनपढ़ के साथ शादी हो। क्या शीला इस बात को पसंद करेगी!'

"तुम या मैं क्या शीला से पूछने बैठेंगे। नई रीति है। तुम्हारे ही कोई नई लड़की नहीं है, जगत् में हैं। आजकल कोई पूछता भी होगा! मा-बाप ही करते हैं। तुमने ऐसी-ऐसी बातों से शीला को बिगाड़ रक्खा है।"

लाला दीनदयाल ज्यादा बातूनी न थे। अपनी स्त्री को भी खूब जानते थे, चुप हो गए, और कहा—"ग़ौर कर लो। मेरी राय में तो कोई और लड़का ही अच्छा रहेगा।"

उनकी स्त्री दूसरे लड़के को सुनकर शीघ्रता से पूछने लगीं—"कौन-सा?"

इसके उत्तर में लालाजी ने कहा—"वीरेश्वर।"

"कौन वीरेश्वर?"

"वही, जिसने इस साल बी० ए० की परीक्षा पास की है। इसी शहर में रहता है। तुमने उसे देखा तो है।"

"मैं क्यों देखती, मेरा मतलब क्या। उसके पिता क्या करते हैं?"

"दो साल हुए, देहांत हो गया।"

"मा है या नहीं?"

"वह पहले ही मर चुकी थी।"

"फिर, उसके यहाँ क्या शीला को भाड़ झोंकने के लिये ब्याहोगे?"

"लड़का पढ़ा-लिखा है। होशियार है। ऐसा लड़का मिल नहीं सकता। उसने शीला को भी देखा है, और शीला ने भी कई दफ़ा उसे देखा है। यदि तुम उचित समझो, तो उसके साथ संबंध कर दिया जाय। मा-बाप किसी के सदा ज़िंदा नहीं रहते।"

धर्मपत्नीजी के विरुद्ध जो कोई कुछ भी कहता था, उन्हें क्रोध आ जाता था, फिर उनके सामने बात करना ज़रा टेढ़ी खीर थी।

शीला को देखना और वह भी उस लड़के ने, जिसके साथ शादी हो, उनकी राय से बिलकुल अनुचित था। भला, लड़का भी कहीं लड़की को देखता है। उनको ताब न रही, और कड़े शब्दों में पूछने लगीं—"शीला ने किस प्रकार उस लड़के को देखा है?"

लालाजी गंभीरता से बोले—"आप नाराज़ न हों। आपने भी उस लड़के को देखा है, शीला उस समय तुम्हारे साथ थी। आर्य-समाज के जलसे में उस लड़के का कई मर्तबा व्याख्यान हो चुका है। वही लड़का है, जिसने एक दफ़ा स्त्रियों की आज़ादी और पढ़ाने पर लेक्चर दिया था। लेक्चर के बाद वह मुझसे मिलने आया था।"

इतना सुन धर्मपत्नीजी गंभीर हुई और संतुष्ट भी हो गई। लड़के की याद भी आ गई, परंतु नाक-भौं चढ़ाकर बोलीं—"वह तो आर्य-समाजी है। शीला को भी दिन-रात मेरी तरह से हर त्योहार पर लड़ना पड़ेगा। अगर लड़का सनातन-धर्मी होता, तो क्या अच्छा था। न-जाने क्या बात है कि जितने पढ़े-लिखे होते हैं, सब आर्य-समाजी हो जाते हैं। सारी बिरादरी में वही दयानंद के मत के हैं, जो बहुत पढ़े हैं। सरकार भी तो मना नहीं करती। अपनी पाठ-पूजा, धर्म-कर्म छोड़ देते हैं। शीला की उसके साथ शादी होना तब तक ठीक नहीं, जब तक वह इन आर्यों के पाखंड से न निकल जाय।"

"हमारा कुछ हर्ज नहीं। शीला की मर्ज़ी पर है। वह भी आर्य-खयाल की है। दोनो एक-से मिल जायँगे।"

शीला की मा ये शब्द सुनकर उठ पड़ीं, और यह कहती हुई कि "इससे तो भाड़-चूल्हे में झोंक देना अच्छा है" अपने काम में लग गई। लालाजी ने अपने दफ़्तर का बस्ता खोल काम शुरू कर दिया।

वीरेश्वर की मुलाक़ात रोज़ाना लाला दीनदयाल से आर्य-समाज में हो जाती थी। उनके इष्ट-मित्रों से उसे पूरा विश्वास हो गया था कि शीला का विवाह उसी से होगा, जिसके लिये वह बड़ा उत्सुक

था। केवल उसे नौकरी की तलाश थी, और शादी के लिये रुपए जमा करना था। दान-दहेज़ के ख़िलाफ़ था। नौकरी वीरेश्वर को आसानी से मिल सकती थी, लेकिन उसका अगाध प्रेम लेक्चर देने और लोगों के साथ भलाई करने में था। शादी की सूचना यद्यपि शीला के पिता ने स्पष्टरूप में नहीं दी थी, तथापि सारे आर्य-समाज के सदस्य इस बात से परिचित थे।

उधर दीनदयालजी की धर्मपत्नी का दृढ़ विश्वास था कि वीरेश्वर के साथ शीला का विवाह कदाचित् नहीं हो सकता, और अगर कोई ज़ोर डालेगा भी, तो वह इसके लिये कभी अपनी सम्मति न देंगी। उनके शादी जल्दी करने के उपाय विचित्र थे। नित्य नए पाखंड शीला से तो कराती थीं ही, लेकिन स्वयं भी करती रहती थीं। सनीचर के दिन भरारे को हाथ दिखाना, ग्रह दिखलाना और उसके बताने पर पुण्य करना मामूली बातें थीं। कोई गेरुवा कपड़े पहने आ जाय, तो उससे शादी का ज़िक्र ज़रूर कर देती थीं। और मुँह-माँगी भिक्षा देती थीं। मीरा, सैयद, गुरगाँव की ज़ात, दुरूद किसी न-किसी बहाने से करती ही रहती थीं। लाला दीनदयाल इनके ख़िलाफ़ थे, लेकिन वह उन पुरुषों में से थे, जिनकी बात घर में, स्त्रियों के सामने, बिलकुल नहीं चलती, चाहे समझाते-समझाते हार जायँ, तब भी मीरा, माता, चामुंडा न छूटें। बस, यही हाल उनके घर था।

ऐसे गृह में स्त्रियों को बुलाने-चलाने के लिये पड़ोस की किसी बुड्ढी स्त्री से काम लेना स्वाभाविक बात है। पड़ोस मुसलमानों का होने पर भी दीनदयालजी की स्त्री ने एक को टटोल ही लिया। नसीबन नाम की मुसलमानी, उम्र लगभग पचास वर्ष की होगी, घर आया-जाया करती थी। दिन में दो-चार फेरे कर जाना नित्य नियम था। कुछ तो खाने-पीने का लालच, कुछ अपने मालिक के काम से छुटकारा, दोनो बातें ऐसी थीं, जिनके कारण नसीबन शीला की मा

के पास उठना-बैठना ज्यादा पसंद करती थी। नसीबन की उम्र इतनी होने पर भी डोलने-फिरने के काम से बहुत प्रसन्न रहती थी। उसका रंग, चेहरा-मोहरा, शरीर की बनावट और पहनावा ऐसा था, जिसे दूसरा आदमी देखकर यही सुभा करने लगता था कि वह अभी नौजवान है। इसीलिये नसीबन सदा चाहे घर से दो क़दम बाहर जाय, बुर्क़ा पहनकर जाती थी, और बातें भी करती थी, तो इतनी आहिस्ता से कि मानो कोई बहू ही बोल रही हो। लालाजी की स्त्री से बड़ी मित्रता हो गई थी। कई दफ़ा लालाजी ने कहा भी कि मुसलमानी का आना ठीक नहीं, न-जाने कौन-से वक़्त क्या बात खड़ी हो। लेकिन वह नहीं मानती थीं। हिंदू-स्त्रियों की तरह मीठी बातों में आ जाती थीं।

दोपहर के दो बजे होंगे, नसीबन शीला की माता के पास बैठी हुई बातचीत कर रही थी। बातों-बातों में शीला की शादी का ज़िक्र छिड़ गया। नसीबन ने पूछा—"लड़का कुछ मालदार घर का है?"

"सुनते तो हैं। घर का ज़मींदार आदमी है। खाता-पीता है। ईश्वर की दया स मा-बाप ज़िंदा हैं।"

नसीबन का चेहरा ख़ुशी से दमकने लगा और कहने लगी—"बहू, शीला रही क़िस्मत की ज़बर्दस्त। ख़ुदा वह घड़ी लाये।"

नसीबन शीला की माता को बहू कहकर पुकारा करती थी।

"हाँ, बड़ी-बूढ़ियों का प्रताप है। गंगामाई के अधीन बात है। लड़केवाला छ हज़ार रुपए माँगता है।"

"देखना बहू, तुम लोगों के यहाँ लेन-देन का बड़ा बुरा हिसाब है। किसी पर इतना रुपया न हो, तो कुँआरी लड़की ज़िंदगी-भर यों ही बैठी रहे। यह रेशमी कपड़ा-सा क्या सी रही हो?"

"कुछ दहेज़ के लिये कपड़ा सीना है। आहिस्ता-आहिस्ता अभी से काम शुरू कर दिया है।" सुई दाँतों तले दबाती हुई कला की

माता इधर-उधर देखने लगीं, और ज़ोर से शीला को पुकारा। वह फ़ौरन् किताब हाथ में लिए दौड़ी हुई आई और पूछने लगी—"क्या है माताजी?"

"बेटी, यह किताब का पढ़ना छोड़ दो। तुम्हें पराए घर जाना है। घर पर कोई आवे, तो उसका सत्कार करना चाहिए। ज़रा बुआजी के लिये पान लगा लाओ। छाली बारीक कतरना।"

"नहीं बहू, क्यों तकलीफ़ की। मैं अपने पल्ले में तंबाकू बाँध लाई हूँ। बेटी, बैठ जा। बहू, तुम्हें अब उससे कुछ नहीं कहना चाहिए। बेचारी थोड़े दिनों की मेहमान है। फिर यह घर तो उसे सपना हो जायगा।"

"बुआजी, ठीक कहती हो, मगर कुछ लच्छन तो सीखे। किताब पढ़ने से क्या पेट भरता है? सबेरे-सबेरे दो घंटा पाठ करती है, अब फिर किताब उठा ली है। बेटी भी को तो छोटे-मोटे काम चौचीती से करते रहना चाहिए। हमारे वक़्त में चर्ख़ा-चक्की थे, अब वे भी मिट गए।"

"ऐसा न कहो बहू, शीला बड़ी भाग्यवान् है। भला, इन नन्हे हाथों में वह चर्ख़ा चलाएगी, चक्की पीसेगी। वह तो पलके पर बैठने-लायक़ है। ख़ुदा ऐसा ही घर देगा।"

"घर मैंने ऐसा ही ढूँढ़ा है। आगे इसकी तक़दीर। बुआजी, अगले सोमवार को इसकी सगाई भेजूँगी, ज़रूर आना। तुम्हें अभी से न्योता दिए देती हूँ, फिर कभी कहो कि बात भी न पूछी। मेरे कोई बेटा तो है ही नहीं, जो उसे बाहर भेज दूँ, और तुम्हें बुलवा लूँ। अपने आप जब तक वह काम निबटे, चक्कर लगाती रहना।"

बुआजी इन बातों में बड़ी प्रसन्न रहती थीं, और अपने बोल-चाल से दूसरे आदमी को इतना ललचा लेंती थीं कि मनमाना काम करा लें। "बहू, जिस वक़्त तू बुलावेगी, हाज़िर हूँगी। तेरा काम

सो मेरा काम। ख़ुदा ने दिखाया है, तो मैं भी शीला की शादी में काम कर रही हूँ। मुझ बदनसीब के तो कोई नहीं, मैं तो पराए बेटे-बेटियों को देखकर बड़ी ख़ुश होती हूँ।" कहते-कहते उसकी आँखों से आँसू निकलने को ही थे कि उसने कुर्ती के आँचल से तिनका गिरने का बहाना कर आँखों को मसल डाला।

बहूजी का हृदय दया से भर आया, और कुछ न कह उठीं। चौके से मिठाई लाकर खाने को दी। नसीबन मुसलमानी होने के कारण हर चीज़ तकल्लुफ़ से लिया करती थी। चाहे उसे पहली ही दफ़ा हाथ में ले ले, लेकिन बीसों मर्तबा यही कहती रहती थी कि बहू, ले लो; मुझ बुढ़िया को बालकों के सामने खाना क्या अच्छा लगेगा। बहूजी में इतनी बुद्धि कहाँ थी कि इन बातों को समझें। जब कभी लाला दीनदयाल कहते भी थे कि इस बुढ़िया को खिलाना अच्छा नहीं, तो उनकी धर्मपत्नी यही उत्तर देती थीं कि वह बेचारी क्या मेरे खाने को आती है। बड़ी मुश्किल से कभी कोई चीज़ देती हूँ, तो लेती है।

बुआजी ने मिठाई लेकर बहूजी को असीस दी, और कुछ कहना ही चाहती थी कि उसकी ज़बान एकाएक रुक गई। बहूजी के आग्रह पर बोली—"सगाई भेजने से पहले सवाब का काम करना अच्छा रहेगा।"

"मैं हर वक्त तैयार हूँ। आप जो कुछ कहेंगी, करूँगी। बुआजी, मैं ज़िद न करती, तो बतलातीं भी न कि क्या करना चाहिए?"

"यों तो बहूजी, तुम्हारे हिंदुओं में हज़ारों देवी-देवता हैं। हमारे यहाँ तो सैयद हैं। जुम्मे के दिन मग़रिब के वक़्त कुछ पकवान करना और किसी साईं या फ़क़ीर के हाथों दरूद लगवाकर उसे ही दे देना। इसका सवाब बहिश्त तक पहुँचता है।"

"जुम्मा कब होगा बुआजी?"

"आज बुद्ध है, कल जुमेरात है। उससे अगले रोज़ है जुम्मा।" बुआजी ने उँगलियों पर गिनकर बतला दिया कि आज से तीसरे रोज़ शाम को करना। "हमारे यहाँ शाम को मग़रिब' का वक़्त कहते हैं। समझीं। तुम्हारे यहाँ जुम्मे को शुक्र कहते हैं।"

"अच्छा बुआजी, यह बतलाती जाओ कि फ़क़ीर कौन बुलाकर लावेगा?"

"मैं भेज दूँगी! इसकी फ़िक्र न करना।"

बुआजी चलने को ही थीं कि बहूजी ने पल्ला पकड़कर बिठा लिया, और इधर-उधर की बातें करती रहीं। इतने में लाला दीनदयाल कचहरी से आ गए। नसीबन की सूरत उन्हें एक मिनट नहीं भाती थी। यदि घर में उनका ज़ोर होता, तो वह उसे चौखट पर घुसने नहीं देते। जब तक घर में मौजूद रहते थे, नसीबन का साहस नहीं था कि इधर की तरफ मुँह भी करे। कचहरी के वक़्त नसीबन आ जाती थी। लालाजी को देखते ही बुर्क़ा डाल लिया, और धीरे से चली गई।

अपने पिता की आवाज़ सुनकर शीला और कला अपने कमरे से बाहर निकल आईं। एक हवा करने लगी, दूसरी मुँह-हाथ धोने के लिये लोटे में पानी ले आई।

दोनो बहनें रोज़ाना अपने पिता के पास शाम को आकर बैठ जाती और बातें करने लगती थीं। दिन यों ही गुज़रते थे। शीला और कला, जब तक उनके पिता कचहरी में रहते, चुप बैठी रहती थीं। लाला दीनदयाल एक दिन शाम के वक़्त खाट पर लेटे हुए थे। उनकी छोटी पुत्री समाचार-पत्र पढ़ रही थी। शीला बैठी हुई रूमाल बुन रही थी। जब कला एक सफ़ा पढ़ चुकी, तो शीला ने अपने पिता से कहा—"लिखना आसान है, उस पर अमल करना कठिन। आप माताजी को रोज़ाना समझाते हैं, तब भी उनकी वही हालत है।"

पिताजी ने पेट पर हाथ फेरते हुए कहा—"ठीक है, परंतु जितना

संसार में मनुष्य जिस प्रकार भी कर सके, उतना अवश्य करना चाहिए। कोई माने या न माने। उसका काम।" कला की ओर देखकर पूछने लगे—"आज चौके में क्या नई बात होगी, जो इतना सामान रक्खा है?"

"सैयद की मानता मानी जायगी। नसीबन कह गई थी।"

"किसलिये?"

"जीजी शीला के विवाह के सबंध मे। सुनते हैं, सैयद को पूजने से भले काम मे कोई अड़चन नहीं पड़ती।"

पिताजी हँसे, और कला से फिर पूछा—"तुम्हारा विश्वास इन बातों में है या नहीं?"

कला ने बच्चों की तरह मुँह मटकाकर कहा—"इन पाखंडों से होता क्या है, सब व्यर्थ है। खाने को ख़ूब मिल जाता है।"

शीला भी चुप न रह सकी, और बोली—"ससार मे लोगों ने खाने के कैसे-कैसे ढंग निकाल लिए हैं।"

आपस मे बातें हो ही रही थीं कि शीला की माताजी अंदर कोठे से बाहर निकली आ रही थीं। ज्यो ही दोनो लड़कियों को पास बैठे देखा, उनका चेहरा लाल हो गया। तमककर बोलीं—"तुम दोनो को शर्म नहीं आती। यहाँ आकर बैठ गई। आजकल की लड़कियाँ अजीब हैं।"

कला हाज़िरजवाब थी। कुछ तो उम्र मे छोटी और दूसरे बाप का लाड़; तुरंत बोल उठी—"कोई ऐब है; अच्छे बैठे हैं।"

माताजी ने सुनते ही कड़ी निगाह से कला की ओर देख उसकी तरफ़ चलीं। साथ-साथ बड़बड़ाती जाती थीं। कला की समझ में केवल इतना आया कि 'जब मैं इतनी बड़ी थी, तो अपने बाप के सामने नहीं निकलती थी।' उसका उत्तर शीघ्र ही कला ने दे दिया—"क्या बाप के सामने निकलना पाप है?"

माताजी के क्रोध की सीमा न रही, तड़पकर चिल्लाने लगीं—"पाप नहीं, तो क्या है? तुम इतनी बड़ी हो गईं, तुम्हें एक दफ़ा के देखने में एक परी ख़ून घटता है। कुँआरी लड़की का माँ-बाप के सामने हर वक्त मौजूद रहना ठीक नहीं। बेटी का दबे-ढके रहना ही ठीक है। कला, तेरी ज़बान बहुत चलने लगी है। शीला तो शीला ही है, न उसकी गुरू बनेगी।"

कला उत्तर देने को ही थी कि पिता के कहने से चुप हो गई। इशारा करने पर अंदर चली गई। माताजी ने शीला से रूमाल उठाकर रखने और चौके में आग सुलगाने के लिये कहा। शीला भी वहाँ से हट गई। आप ख़ुद पीढ़ा बिछाकर बैठ गईं। इतनी देर तक लाला दीन-दयाल ख़ामोश बैठे थे। कभी शीला के मुँह की तरफ़ और कभी कला की ओर देख लेते थे। अपनी स्त्री की तरफ़ देखने का साहस न था।

पीढ़े पर बैठते ही उनकी स्त्री ने समाचार-पत्र को उलटी-सीधी तह कर एक तरफ फेंक दिया, और अपने हाथों की चूड़ियों को छनछनाकर धैर्य-पूर्वक बैठ गईं।

लाला दीनदयाल भी सँभलकर होशियार हो गए। धीरे से पूछने की हिम्मत की—"क्या आज कोई त्योहार है?"

"त्योहार ही समझो। अपनी देह से जितना दान बन जाय, ठीक है। मैंने आज तय कर लिया है कि शीला की सगाई अगले सोमवार को भेज दूँ।"

"बहुत ख़ुशी की बात है। मैं भी चाहता हूँ कि जितनी जल्दी शीला का विवाह हो जाय, उतना ही अच्छा। सगाई के लिये क्या-क्या सामान चाहिए?"

"सामान! और तो इतवार को आ सकता है, एक सोने की अँगूठी बनने दे दो। परात ले आना। लड्डू और थान उसी दिन आ जायँगे। फूल-पान पुरोहित या नाई ले आवेगा।"

लालाजी ने 'हाँ" कहकर बात का उत्तर दिया और बोले "इसके सिवा कुछ और चाहिए ?"

"रुपए कितने भेजोगे। सलाह कर लो।"

"मामूली बात है, चाहे जो कुछ भेज देना। इस बारे में कोई फ़िक्र नहीं।"

"टेढ़ी खीर तो रुपए की है। छ हज़ार तो मुँह से माँगता है, तुम कितने दोगे ?"

छ हज़ार शब्द सुनकर लालाजी भौचक्के-से रह गए। देर तक मुँह से एक शब्द भी न निकला। फिर बोले—'यह क्या ? सगाई कहाँ भेज रही हो ?"

"लाला प्रभुदयाल के लड़के को। इसमें भी कोई संदेह है ?"

लालाजी की आँखें खुली-की-खुली रह गईं, अपनी स्त्री की तरफ़ टकटकी बाँधकर देखते रहे। तब कैसा। मैंने वहाँ सगाई भेजने का तो कभी इरादा ही नहीं किया। तुमने अपने आप कैसे पक्की कर ली ?"

"मेरी बेटी है। माँ अपनी बेटी को सुख में रखना ही चाहती है। तुम क्या जानो। तुम तो उसे एक ऐसे के पल्ले बाँधना चाहते हो, जिसके घर न मड़ैया। पढ़े-लिखे को क्या भाड़ में डालें। लाला प्रभुदयाल बड़े आदमी हैं। बिरादरी में नामी हैं।"

"बिरादरी में कैसे ही नामी हों, शीला वहाँ आराम नहीं पा सकती। कंजूस अव्वल दर्जे के हैं। बेचारी रोटी करते-करते मर जायगी। हमें तो लड़का देखना है। वीरेश्वर ही इसके योग्य है। यदि तुम कोई मेरा कहना मानना चाहती हो, तो केवल इसी को मानो, और शीला का संबंध वीरेश्वर से हो जाने दो।"

लालाजी की स्त्री का स्वभाव जल्द ही बिगड़ जाता था, और झुँझला उठती थीं। उनकी मंशा के ख़िलाफ़ कोई भी बात कहे, बड़ी बुरी लगती थी। ग़ुस्से में उन्होंने साफ़ तौर पर कह दिया कि शादी

भागमल के साथ ही होगी, और तुम्हें लाला प्रभुदयाल से आजकल में मिलने जाना पड़ेगा।

लालाजी सहम-से गए, और सोचा कि क्रोधित मनुष्य को समझाना कठिन होता है। विशेषकर अपनी स्त्री को समझाना तो असंभव था। राज़ी में ही कोई बात नहीं मानती थी, तो अब का क्या ठिकाना था। "अच्छा" कहकर बात टाली।

शीला आग सुलगा चुकी थी। उसने अपनी माता को कई बार पुकारा भी, लेकिन उन्होंने न सुना। अंत में उसने ज़ोर से चिल्लाकर पुकारा, और वह अपने चौके में पहुँच गई।

जिस समय इनमें बातें हो रही थीं, शीला सुन रही थी। उसे बड़ा दुःख पहुँच रहा था। समझदार लड़की के लिये ऐसी बातों का समझना साधारण-सी बात है। उसने अपने मन में सोचा, यह सारा वाद-विवाद मेरे ही कारण है। यदि मैं न होती, तो मेरे माता-पिता को इतना कष्ट न सहना पड़ता। इसी तरह के खयालों में वह धीरे-धीरे कोठे की तरफ़ गई, और चारपाई पर जाकर पहले तो बैठी, लेकिन तुरंत ही अपने हाथों से मुँह ढककर लेट गई। उसके पिता ने यह सब कुछ देखा, और अपने को मन-ही-मन में बड़ा बुरा-भला कहा। अपनी बेटी के दुःख को कैसे सहन कर सकते थे। उस समय शीला से भी किसी तरह की बात कहना उचित न समझा। कला को पुकारा और यह कहकर कि खाना रात को ज़रा देर से खाऊँगा, छड़ी हाथ में ली, नियमानुसार आर्य-समाज में पहुँच गए। रास्ते में उनके मित्र मिल गए। विषय शीला के विवाह का ही था। अपने मित्र से लाला दीनदयाल घर की सारी बातें कह दिया करते थे, और उनका भी वही दस्तूर था। मित्र को यह समस्या सुलझानी बड़ी कठिन-सी मालूम हुई।

आर्य-समाज पहुँचने पर पहले बीरेश्वर ही दिखाई पड़ा। बहुधा

सबसे पहले वह आ जाया करता था। मनुष्य पर जब कोई बड़ी भारी आपत्ति पड़ती है, तो वह उसके बटाने के लिये स्वाभाविक रूप में अपने इष्ट-मित्रों से सलाह लिया करता है। लालाजी इस बात को कहने में हिचके, परंतु उनके मित्र ने बयान कर ही दिया। वीरेश्वर कहता भी तो क्या, चुप सुनता रहा। केवल थोड़े-से शब्दों में बोला—"लालाजी, आप मेरे लिये इतना दुःख न उठावें। यदि आपकी धर्मपत्नी नहीं चाहती हैं, तो वह भी कुछ सोचकर कहती हैं। जहाँ आपकी पुत्री को सुख मिले, वहीं सबंध होना ठीक है। बाक़ी आप लोग जानें, मैं तो इन मामलों में बिलकुल अनाड़ी हूँ।"

लालाजी ने ठंडी साँस भरी, और अपनी मजबूरी ज़ाहिर करते हुए वीरेश्वर से क्षमा-प्रार्थना की। उन्होंने कहा—"तुम्हारे-जैसा वर मिलना मेरी कन्या के लिये असंभव है। क्या करूँ।"

वीरेश्वर ने निगाह नीची कर ली, मानो वह ज़मीन पर कोई नई वस्तु ढूँढ़ने की चेष्टा में लग रहा था। उसके हृदय पर चोट अवश्य लगी, लेकिन बग़ैर कुछ कहे वह अपने काम में लग गया। दैनिक कार्य की पूर्ति के पश्चात् सब लोग अपने घर चले गए। वीरेश्वर भी अपने घर जाते समय रास्ते में धावेवाले से मना कर गया कि मैं खाना नहीं खाऊँगा, और कमरे में जाकर लेट गया।

खाट पर पड़ते ही उसका मस्तक चकराने लगा। मन चंचलता से दुःखित हो रहा था। कमरे में अकेला पड़ा हुआ था। उसके हृदय पर ऐसी चोट लगी, मानो किसी ने उसकी सारी मनोकामनाओं को उससे आयु-भर के लिये छीन लिया है और वह निराश है। पिछली बातें याद आने लगीं। जिस दिन अपने व्याख्यान के बाद शीला से मिला था, उसका दृश्य उसकी आँखों में तसवीर की तरह जम गया। लाला दीनदयाल ने जो विवाह की उम्मेद दिलाई थी, उस पर उसे क्रोध आया। क्या पढ़े-लिखे भी अनपढ़ स्त्रियों के

अधीन रह सकते हैं। ईश्वर में विश्वास था। ये सारी उलझनें उसने इसी आधार पर कि जो कुछ प्रारब्ध में है, सुलझा लीं। उपाय करने का कोई अवसर था, तो केवल इतना ही कि कहीं अच्छी नौकरी करे, और घर का मकान ख़रीद करे। अंत में संतुष्ट रूप में उसने अपने मन में यह धारणा बाँध ली कि यदि शीला मेरी है, तो अवश्य मिलेगी। यदि देश की उन्नति हम दोनो से होनेवाली है, तो कभी रुक नहीं सकती। यदि परमपिता परमात्मा को दुःख देना है, तो दुःख उठाना भी मनुष्य के कर्मों का भोग है। इसमें मेरे या किसी के कुछ बस का नहीं है। हाँ, मुझे परिश्रम अवश्य करना चाहिए। कोई वस्तु बिना कोशिश के नहीं मिल सकती।

वीरेश्वर ने इतना ही नहीं सोचा, बल्कि अपने कपड़े, पुस्तकें इत्यादि बक्स में बंद कर लीं। जो सामान छोड़ना था, उसको अच्छी तरह ताला लगाकर बंद कर दिया। एक पत्र समाज के प्रधान को इस विषय पर कि "मैं कहीं जा रहा हूँ" लिखकर बरामदे में रख दिया। साथ में कुछ और पुस्तकें भी थीं। चपरासी रोज़ाना सबेरे वीरेश्वर के यहाँ आता और बरामदे में रक्खे हुए काग़ज़-पत्र प्रधानजी के पास ही पहुँचा देता था। वीरेश्वर ने अपने पत्र में यह कुछ नहीं लिखा कि कब और कहाँ जा रहा है।

लाला दीनदयाल जब तक घर पहुँचे, उनकी स्त्री 'सैयद' के काम से निबट चुकी थीं। खाने के इंतज़ार में बैठी हुई थीं। कला खाना खा चुकी थी। उसे एक मिनट भी भूखा रहना दूभर हो जाता था। एक यह भी कारण था कि उसकी माता उससे सदैव नाराज़ रहती थी, और ताने मारा करती थी कि जब तू पराए घर जायगी, तो क्या करेगी? सास-ननद दौंच-दौंचकर मार डालेंगी, लेकिन कला इन बातों पर ध्यान देती, तो यहीं तुज-तुजकर पिंजर हो जाती। अपने मनमाना भोजन करती थी।

लालाजी घर पहुँच गए। खाने के लिये बैठे। नियमानुसार पूछने लगे कि कला ने खाना खा लिया या नहीं। उनकी स्त्री ने उत्तर दिया कि वह खा चुकी और सो भी गई। तुम्हारी बिगाड़ी हुई है।

लालाजी चुप हो गए। ग्रास तोड़ा ही था कि उनकी आँखें कोठरी की तरफ़ पड़ीं। शीला मोमबत्ती जलाए पढ़ रही थी। ज्यों ही लालाजी की निगाहों ने शीला को देखा, उन्हें बड़ा दुःख पहुँचा। उन्होंने अपनी स्त्री से पूछा—"क्या वह खाना खा चुकी है?"

स्त्री "नहीं। मैंने कई बार कहा भी।" शीला को आवाज़ देते हुए उसकी माता ने कहा कि वह सिर-चढ़ी है। जब से हमारी बातें हुई हैं, वह इसी तरह कोठरी में पड़ी रहती है। अभी चिराग़ जलाया था। लड़कियों को इन बातों से क्या मतलब, मा-बाप का कर्तव्य है।

लालाजी ने शीला को पुकारा, और वह धीरे से चौके में आकर बैठ गई। आग्रह करने पर उसने बहुत थोड़ा खाना खाया। उसकी इच्छा न थी, किंतु पिता को दुःखित देखना नहीं चाहती थी। इस-लिये दो-तीन ग्रास खा, पानी पी लिया और सिर-दर्द का बहाना कर, सोने चली गई। लालाजी ने अपनी स्त्री को समझाना चाहा, परंतु व्यर्थ। रात में चखचख करने से मोहल्लेवालों को दुःख होता। पान खाकर बैठक में चले गए, और सोने की तैयारी कर चारपाई पर लेट गए। दिन-भर के हारे-थके थे, नींद आ गई। अपनी स्त्री के कटाक्षों की वे कभी परवा न करते थे। ऐसा तो होता ही रहता था।

---

*

अकस्मात्

जुम्मे की रात को सब लोग घर में आराम से सोए। सुबह सबसे पहले शीला की माता उठी। छः बजे होंगे। झाड़ू बुहारी दी, चौका लगाया। इतने में कला भी उठ बैठी। मुँह-हाथ धोकर पाठशाला जाने की तैयारी की। साढ़े छः बजे की घंटी भी बजने लगी। शीला की माता काम से निबट स्वयं कहने लगी—"साढ़े छः बज गए, अभी शीला पूजा करके नहीं उठी!" उन्होंने फिर ज़ोर से पुकारा—"शीला, मालूम है, कितना वक़्त हो गया, पूजा-पाठ से निबटी हो या नहीं?" माताजी इस प्रकार चिल्ला रही थीं, मानो सुननेवाला बहरा हो।

कोठरी से कोई उत्तर न मिला। शीला वहीं पाठ किया करती थी। माताजी इतने ज़ोर से चिल्लाई थीं कि उनकी आवाज़ से कमरा गूँज उठा! उत्तर न पाकर और क्रोधित हो उन्होंने ज़ोर की आवाज़ से पुकारा—"शीला, बाहर निकल आओ; तुम्हारे लाला को कचहरी के लिये देर हो रही है।"

अंदर से कोई आवाज़ नहीं आई, न घंटी की टिनटिन सुनाई पड़ती थी, न भजनों का बोल और दिनों की तरह सुनाई देता था। अपने मन ही में कहने लगी कि शीला कहाँ गई। अपनी छोटी लड़की कला को बुलाकर कहा कि शीला को अंदर से बुला लाओ।

कला पाठशाला जाने की तैयारी कर चुकी थी। बस्ता बग़ल में था। केवल अपनी माता से दो पैसे लेने थे। ज्यों ही माता की आवाज़ सुनी, फ़ौरन् दौड़ी हुई पहुँची, और जल्दी से यह कहकर कि मुझे कुछ ज़रूरी काम है, लौटने को ही थी कि उसकी माता ने फटकार दी,

और कला अपना बस्ता मेज़ पर रख अंदर कोठरी में पहुँच गई। चारों तरफ़ देख-भालकर कला ने वहीं से कह दिया कि शीला जीजी यहाँ नहीं है।

"सबेरे-सबेरे झूठ बोलना किसने सिखलाया है! भगवान् का डर कर। ज़रा अच्छी तरह देख, शायद सो रही हो।"

"माताजी, मैं ठीक कह रही हूँ। जीजी यहाँ नहीं है। यदि यक़ीन न हो, तो खुद आकर देख लो। मुझे हँसी करने से क्या मतलब!" कला ने कड़े शब्दों में ये बातें कहीं। माताजी ने तुरंत ही उत्तर दिया—"आती हूँ" और हाथ का दूध का गिलास ढककर सीधी कोठरी में पहुँच गई। कला की पीठ पर हाथ रखकर थपकी देते हुए पूछा—"शीला कहाँ गई है?"

"मैं कुछ नहीं जानती माताजी।" कला ने धीरे से कह दिया, और अपनी मा के चेहरे की ओर टकटकी बाँधकर देखने लगी।

माताजी कुछ देर चुप खड़ी रहीं, और सोच-विचारकर कहने लगीं—"शीला ने अभी अपनी सबेरे की पूजा भी नहीं की। हरएक चीज़ ज्यों-की-त्यों रक्खी हुई है। ठाकुरजी के स्नान भी नहीं हुए हैं, उनके चरणों पर फूल-पान भी नहीं चढ़े हैं, माथे पर तिलक भी नहीं लगा है।" मुँह पर उँगली रखकर सारी चीज़ों को दृष्टि भरकर देखा, और अचानक बोल उठीं—"ठीक, मैं समझ गई, रात को वह देर तक पढ़ती रही थी। मैंने कई बार टोका भी, उसने चिराग़ नहीं बुझाया। हारकर मैं तो सो गई, ज़रूर वह अभी तक सो रही होगी। क्यों बेटी कला, मैं ठीक कहती हूँ न?"

"नहीं माताजी" कला ने तुरंत ही उत्तर दे दिया—"आप सच नहीं कहती हैं। परमात्मा आपको देखेगा। मैंने शीला को कभी देर से उठते नहीं देखा है। वह हम सबसे पहले उठती है। उसकी बचपन ही से ऐसी आदत है।"

कला शीला को सदा इसी नाम से पुकारा करती थी। शीला और कला की उम्र में केवल दो वर्ष का अंतर होगा। देखने में दोनों बराबर की मालूम होती थीं। कभी-कभी कला को जीजी कहना पड़ता था। माताजी सदा कला को टोकती रहती थीं कि तू अपनी बड़ी बहन का नाम लेती है ! शीला हमेशा अपना नाम लेने पर ही प्रसन्न रहती थी। ऐसा क्यों चाहती थी, शीला उसका कुछ उत्तर नहीं दे सकती थी।

'वह किस तरह से सबेरे उठ सकती थी:! आधी रात तक तो पढ़ते हुए मैंने ही सुना था। कला, आजकल की लड़कियाँ अपनी माताओं को तो गँवारी समझती हैं।"

"नहीं माताजी, यह बात नहीं। शीला की आदत ही सबेरे उठने की है। मैं अच्छी तरह जानती हूँ।"

"पर बेटी, कल तो आधी रात से पीछे तक ढ़ती रही थी।" इन शब्दों को माताजी ने ऐसे लहजे में कहा, मानो उससे शीला की खोज का पूरा पता लग सकता था

"ऐसा संभव है, क्योंकि आगामी उत्सव के लिये वह अपना व्याख्यान तैयार कर रही होगी। उसके भी थोड़े ही दिन बाक़ी रहे हैं। बहुधा शीला रात को देर तक पढ़ती भी रहती थी। हमारी तरह उसे आलस्य नहीं है।"

माताजी आश्चर्य से कला की ओर देखने लगीं और पूछने लगीं—
"क्या शीला रात को देर तक पढ़ती रहती थी ?"

"हाँ माताजी!" कहकर कला अपना सिर नीचा कर खड़ी हो गई।

"जितनी तुम छोटी हो, उतनी ही खोटी हो। तुम दोनों में से एक ने भी कभी यह नहीं बतलाया कि रात को बारह-बारह बजे तक पढ़ती रहती हो।" माताजी का चेहरा बात समाप्त करते ही बिगड़ गया, और घृणा से कला की ओर देखने लगीं।

शीला ने मुझसे मना कर दिया था। माताजी, बुरा न मानना, मैं शीला को इतना प्यार करती हूँ कि . इन शब्दों को कहने ही पाई थी कि उसकी ज़बान बंद हो गई, और वह चुप खड़ी-की-खड़ी रह गई। न-जाने उसके मन की कौन-सी शक्ति ने आगे बोलने से रोक दिया।

"तुम अपनी मा को प्यार नहीं करती हो, कला?"

"क्यों नहीं, मैं आपकी बेटी हूँ, आपको प्यार करती हूं। आपका आदर-सत्कार करती हूं।" कला कहते-कहते अपनी मा से लिपट गई, और सिर उठाकर मा की तरफ़ प्रेम की दृष्टि से देखती रही। फिर अलग होकर बोली—"बस माताजी, आपको उसी समय प्यार नहीं करती हूं, जब आप मुझे पाठशाला जाने से रोकती हैं।"

"मैं तुम्हारी पाठशाला में आग लगा दूँगी। हर वक़ पढ़ना-ही-पढ़ना। खाते, सोते, उठते, बैठते, दुःख में, सुख में पाठशाला के सिवा और काम नहीं। तुम्हारे लाला से कहूँगी कि शीला की तरह कला का भी पढ़ने जाना बंद करो। स्कूल मे यही पढ़ती हो कि मा का सत्कार न किया जाय।" माताजी क्रोध में जल्दी आ ही जाती थीं, कला से तड़ककर कहा—"जा देख, शीला अपने कमरे में ही सो रही होगी।" कला चुप कान दबाकर चली गई। उत्तर देने का साहस हुआ तो अवश्य, लेकिन शायद सबेरे-ही-सबेरे दो-चार घूँसे लग जायँ, और पाठशाला जाने से रोक दी जाऊँ, इस कारण वह बग़ैर कुछ कहे जल्दी से चल दी।

थोड़ी देर में कला लौटकर आ गई। उसकी आँखें आँसुओं से भरी हुई थीं। आते-आते कई दफ़ा अपनी सारी के पल्ले से पोंछ भी डाली थीं। अपनी मा के पास आकर वह रोने लगी और बोली—"शीला वहाँ नहीं है।"

"शीला नहीं है ? हे परमात्मा ! कला, तू क्या कह रही है, क्या सचमुच शीला नहीं है ?"

"नहीं मा, उसके जूते भी वहीं रक्खे हैं।" कला बात कहती जाती थी, और साथ-साथ रोती जाती थी। रोते-रोते उसकी हिलकी बँध गई, और वह फिर एक साथ चिल्लाकर रोने लगी।

कला के पिता बाहर बैठक में कपड़े पहने हुए कचहरी जाने की तैयारी कर रहे थे। सबेरे दूध पीकर जाया करते थे, या तो शीला या उसकी माता उन्हें दूध दे जाया करती थीं। कला उनसे पहले ही पाठशाला चली जाया करती थी। वह इसी इंतज़ार में बैठे हुए थे कि दूध आता होगा। अचानक उन्होंने कला के रोने और सिसकने की आवाज़ सुन ली। बैठक और घर के आँगन के बीच केवल एक दुवारी ही थी। इसलिये धीरे से बोलने की आवाज़ भी बैठक में पहुँच जाती थी। कला का रोना सुन वह अंदर आए। जैसे ही दुवारी से आँगन में क़दम रक्खा, कला और उसकी मा ने रोते हुए एक ही आवाज़ में कहा—"शीला घर में नहीं है !"

"क्यों, शीला कहाँ गई है ? उसने आज तक चौखट से बाहर मेरी आज्ञा के बग़ैर क़दम नहीं रक्खा !" लाला दीनदयाल ने साधारणतः कहते हुए पटिया पर से दूध का गिलास उठा लिया, और पीना शुरू किया। एक घूँट पीने के बाद वह अपनी स्त्री की तरफ़ देखने लगे, मानो कोई उत्तर सुनने के लिये अधीर हो रहे थे।

"हमे क्या पता, हम दोनो ने सारा घर देख डाला, शीला का कहीं पता न लगा। हम ख़ुद ही परेशान हैं !" कहकर मा-बेटी दोनो रोने लगीं।

लाला दीनदयाल की बग़ल से छाता अपने आप खिसककर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उन्होंने गिलास अलग रख दिया, और स्वयं घर की हरएक कोठरी में शीला की खोज करने लगे। ऊपर,

नीचे, बाहर, अंदर, कोने-बिचले सारे छान मारे, कहीं भी कुछ पता न चला। एक कोठरी में एक रस्सी और एक जूता मिला, जिनसे कुछ संशय पैदा हुआ। उन्होंने उन दोनों चीज़ों को ज्यों-की-त्यों वहीं छोड़ दिया, और आँगन में आकर पटिया पर बैठ गए। माथे से पसीना पोंछा, और अपने कुर्ते के पल्ले से हवा करने लगे। हर चीज़ उठा-उठाकर देखने से उनके पसीना आ जाना मामूली बात थी, और अधिक-तर वह घबराए हुए थे। हाथ पर हाथ धरे हुए बार-बार इधर-उधर निगाह दौड़ाते थे, लेकिन कुछ समझ में न आता था। बैठे बैठे उनके जी में क्या समाई कि शीला ने ख़ुदकशी कर ली होगी, और शायद कोई चिट्ठी-पत्री, खाट के बिस्तरों या किताबों में लिखकर रख दी हो। उन दिनों लड़कियों का आत्महत्या कर लेना साधारण-सी बात थी। लालाजी ने दुबारा उठकर कपड़े और सारी किताबें टटोल डालीं, किंतु कुछ पता न चला।

सोच-विचारकर वह अपने मित्र के पास पहुँचे, और रास्ते में कुल हाल कह डाला। दोनों ने आते-आते यह सलाह कर ली कि पहले घर में जो कुआँ है, उसकी खोज कर लेनी चाहिए। उन्होंने ऐसा ही किया। कई ग़ोते लगाने और ख़ूब देख-भाल करने पर भी कुएँ से कुछ न निकला। निराश उनके मित्र कुए से निकल आए। दोनों करते भी, तो क्या? लालाजी के मित्र ने कहा—"आप कचहरी जायँ, रास्ते में थाने में रिपोर्ट कर दें। बाद में तहक़ीक़ात होगी। मैं मौजूद हूँ। ज़रूरत पड़ी, तो आपको बुला लूँगा। यदि मुमकिन हो सके, तो जल्द लौट आएँ।"

लालाजी "हूँ" कहकर बाहर चले गए। छाता लेना भी भूल गए। उनके मित्र बाहर बैठक में जाकर खड़े-खड़े ही सोचने लगे कि क्या मामला हुआ। शीला ऐसी लड़की नहीं कि किसी बुरे काम की तरफ़ अपनी तबियत लगाए। इतने में बाहर का किवाड़

खुलने की आहट हुई, और उनकी निगाह अपने आप उधर जा पड़ी। बुर्का ओढ़े एक औरत मकान के अंदर चली आ रही थी। बोलना उचित न समझ, उसके पीछे-पीछे वह भी घर को चल दिए, और अच्छी तरह से जाँचकर कि यह औरत अक्सर आया करती है, बाहर चले आए।

ज्यों ही बुर्केवाली अंदर जाकर बैठी, कला और उसकी मा दहाड़ें मार-मारकर रोने लगीं। मा के मुँह से ये ही शब्द निकलते थे—"बुआजी, शीला का पता बताओ।" कला साधारण लड़कियों की तरह रो रही थी, और उसकी हिलकी बँध रही थी।

बुआजी ने अपना बुर्का मुँह पर से हटा लिया, और थोड़ी देर तक रोने में साथ दिया। बाद में बोलीं—"बहू, सबर करो, ख़ुदा मालिक है। अल्लाह ने चाहा, तो पता लग जायगा।"

बहूजी को सबर कैसे बँध सकता था, वह और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगीं। अपना सिर धुनने लगीं। उनकी ज़बान पर ये ही शब्द थे—"बुआजी, शीला को जल्दी बुलाओ।" कला 'हाय जीजी, हाय शीला' कहकर रो रही थी। दोनो रोने में इतनी बेसुध थीं कि एक दूसरे को आपस में बातें करना भी नहीं सूझता था।

बुआजी बहू-बहू कहती आगे बढ़ीं, और उनके पास तक पहुँच गईं। बहू का मुँह पकड़कर बंद करना चाहा। उधर कला से कहा—"बेटी, ख़ामोश हो जाओ, घबराने की क्या बात है। ख़ुदा भला करेगा। अल्लाह ने चाहा, तो कोई दम में ही पता चल जायगा।"

कला और उसकी मा ने रोना बिलकुल तो बंद नहीं किया, लेकिन धीरे-धीरे अवश्य रोने लगीं। बीच में बातें भी कर लेती थीं। बुआ अपना वही कलमा "ख़ुदा जाने, अल्लाह भला करे," हर वक़्त इस्तेमाल करती रहीं। अपनी हमदर्दी दिखलाने के लिये बुआ शीला केगुणों की प्रशंसा करने लगीं। बहुत-सी चतुर स्त्रियाँ ऐसी बातें करने में बड़ी

चालाक होती है कि दूसरा आदमी यदि रोना भी बंद कर दे, तो उसे रुला दें।

कला वहाँ से उठी और खाट पर जाकर बैठ गई। वह इस बुआ के पास कभी नहीं बैठती थी। चाहे कला की मा उसे बुआ कहकर पुकारे, पान लगाकर दे, खाने को दे, उसकी बातों पर विश्वास करे और उसे अपनी बड़ी माने, मगर कला उसे नौकरानी ही समझती थी। उसे नसीबन कहकर पुकारा करती थी। इस बात पर कभी-कभी मा-बेटी लड़ भी पड़ती थीं, लेकिन कला यही कह देती थी कि नौकर नौकर की जगह रहेगा, हमें इस मुसलमानी से क्या संबंध। अब भी खाट पर बैठे-बैठे उसने पूछा—"नसीबन, कुछ शीला का पता लगाओ, बड़ी सैयद की मानता मनवाती हो, सैयद से पूछो कि वह कहाँ गई?"

नसीबन अपने मतलब में बड़ी पक्की थी। गुस्सा कभी नहीं लाती थी, धीमी आवाज़ में बोली—"खुदा चाहेगा, तो पता लगा दूँगी।"

कला चुप हो गई, और अपनी मा के पास जाकर बैठ गई। रोते-रोते दोनों की आँखें लाल हो गई थीं। गला सूख गया था। आवाज़ बैठ गई थी। सबेरे से सिवा रोने के कुछ और था ही नहीं। खाने-पीने का पता तक न था।

लालाजी के मित्र ने कला को बुलाकर कहा—"खाना बनाओ। इतना घबराने की बात नहीं। कोशिश कर रहे हैं, देखो ईश्वर के अधीन है।"

लाला दीनदयाल घर से सीधे कचहरी नहीं गए। रास्ते में कोतवाली पड़ती थी, वहाँ रुके। सोचने लगे, रिपोर्ट करनी चाहिए या नहीं। अपनी आबरू का भी खयाल था। लड़खड़ाते पैरों से कोतवाली के दरवाज़े पर पहुँचे। न-जाने क्यों आगे जाने से जी हिचकिचाया। एक तरफ़ लड़की के गुम हो जाने का सदमा,

दूसरी तरफ़ रिपोर्ट करने से अफ़वाह का डर। रिपोर्ट बग़ैर किए काम चलना मुश्किल था। हिम्मत कर वह हेड कांस्टेबिल के डेस्क तक पहुँच ही गए। उसने देखते ही सलाम का जवाब दिया, और चटाई पर बैठने का इशारा किया।

पुलिस के दफ़्तरों में शरीफ़ आदमियों की इज़्ज़त नहीं होती, न पुलिसवालों का आदर-सत्कार करने से काम निकलता है। ये लोग तो सदा अच्छी-अच्छी नसीहतें करते हैं, जिनसे पुलिस के पेशे में न आमदनी और न रोब। जो इज़्ज़त एक डाकू, बदमाश या गुंडे की होती है, वह एक रईस, या नवाब की नहीं हो सकती। लालाजी चुप बैठ गए, और कांस्टेबिल साहब हुक्का पीते-पीते पूछने लगे—"कहिए बाबू साहब, क्या माजरा है?"

लालाजी उत्तर देने में झिझक खाते थे, लेकिन आख़िर कहना ही पड़ा कि इस-इस तरह से मेरी लड़की की उम्र सोलह साल, रंग-रूप ऐसा, उर्दू-हिंदी पढ़ी हुई, ख़ूबसूरत इत्यादि, कल रात को अच्छी तरह से सोई थी, सबेरे से उसका पता नहीं।

यह सारी हुलिया लालाजी ने ख़ुद ही बयान कर दी। कुछ तो कचहरी की जल्दी और कुछ इस डर से कि बार-बार कांस्टेबिल के सवालों का जवाब देना बुरा मालूम होगा। शायद इस बीच में कोई और आ जाय, तो फ़िज़ूल में बदनामी उठानी पड़े।

कांस्टेबिल ने रिपोर्ट लिख, दस्तख़त करा, ऐसे बने हुए शब्दों में लालाजी से कहा कि उन्हें जेब से एक रुपया निकालकर देना पड़ा। कांस्टेबिल ने लेने से इनकार किया, और बोला—"बाबू साहब, एक रुपया तो मामूली आदमी दे जाते हैं। आपका मामला संगीन है। कोतवाल साहब को क्या दो-चार पैसों पर टाल दूँगा। कलक्टरी में नक़ल तो ले ही नहीं रहे, जो एक रुपया देकर ले ली। आप अपने दफ़्तर की बात वहीं रखिए, यहाँ तो मामला ही दूसरा है।"

लालाजी कुछ देर तक खामोश रहे, और बड़ी नम्रता से कहा—"अभी तो आप यही स्वीकार करें, फिर देखा जायगा।"

कांस्टेबिल कहने ही को था कि कोतवाल साहब अंदर से तशरीफ़ ले आए और पूछने लगे—"क्या मामला है?" रिपोर्ट पढ़ने पर गरदन हिलाकर बोले—"मामला ज़बरदस्त है। तहक़ीक़ात करना ज़रूरी है।"

कांस्टेबिल ने आँख का इशारा किया, और लालाजी ने पाँच रुपए कोतवाल साहब को पेश किए। रुपयों की तरफ़ देखकर कोतवाल साहब आँख-भौं चढ़ाकर बोले—"क्या हम लोगों को भी डोम-भाट समझ रक्खा है? बाबू साहब, इस वक़्त पचास रुपए देने होंगे। बाद में शाम को आकर मिलना।"

लालाजी की साँस ऊपर की ऊपर और नीचे की नीचे रह गई। माथे पर पसीना आ गया, सोचने लगे, ये पचास रुपए किस बात के। जितनी देर तक सोचते रहे, उतनी देर वह अपने दोनो हाथ फैलाए हुए रुपयों-सहित खड़े रहे, और उनकी आँखें कोतवाल साहब के जवाब का इंतज़ार कर रही थीं।

कोतवाल साहब ने दो शब्दों में "आप अपना काम कीजिए" कहकर मुँह फेर लिया। मनुष्यता का भाव मानो उनसे कोसों दूर था। कांस्टेबिल ने इधर-उधर की बातें कर पाँच रुपए जेब में डाले, और कहा—"मैं एक बजे तहक़ीक़ात के लिये आऊँगा। शायद सुपरिंटेंडेंट साहब भी आएँ। आप वहाँ मौजूद रहिएगा।"

लालाजी ने कहा—"मेरी कचहरी है, शायद ही आ सकूँ। आप चार बजे आइए। मैं जल्दी ही वापस आने की कोशिश करूँगा।"

लालाजी के चले जाने पर कोतवाल साहब और कांस्टेबिल पुलिस के हथकंडों की बातें करने और रक़म बनाने की तरकीबें सोचने लगे। वास्तव में पुलिस के आदमी तो महाब्राह्मणों की तरह बाट देखते रहते हैं कि कब कोई फँसे और उनके गहरे हों। एक प्रकार के यमदूत समझि

कचहरी में जिस समय लालाजी पहुँचे, ग्यारह बज चुके थे। यदि वह हेड क्लर्क न होते, तो फ़ौरन् जवाब तलब हो जाता। दफ़्तर के बाबू भी बरामदों में टहल रहे और गप्पें हाँक रहे थे। दफ़्तरों में क़ायदा है कि जब तक अफ़सर न आ जाय, काम शुरू नहीं होता। चाहे कचहरी का वक़्त दस बजे से ही क्यों न हो। लालाजी को बग़ैर छाते आते हुए देख, बाबू लोगों को कुछ शुबा-सी पैदा हो गई। उनकी सूरत देखते ही सब चूहों की तरह अपनी-अपनी जगह पर जा बैठे। दरवाज़े पर चपरासी ने भी जै रामजी का कही, और पंखा-कुली को फटकारकर कहा—"बैठा रहता है, पंखा नहीं खींचा जाता, बड़े बाबू आ गए हैं।"

लालाजी का नाम दफ़्तर में बड़े बाबू था। इनके नीचे काम करनेवाले इनसे प्रसन्न रहते थे। कारण यह कि इन्होंने कभी किसी की रिपोर्ट न की थी, मामला स्वयं तय कर देते थे। दो मुसलमान भाई इनसे अप्रसन्न रहते थे। सारी कचहरी में यही एक हिंदू इतनी बड़ी पदवी पर थे। हर दफ़्तर में सिवा इनके बड़े-बड़े ओहदों पर मुसलमान थे। बस्ती भी मुसलमानों की। डिपुटी-कलक्टर, मुंसिफ़, तहसीलदार इत्यादि सारे मुसलमान। कलक्टर और पुलिस-सुपरिंटेंडेंट अँगरेज़ थे। क्लर्क, चपरासी, पंखा-कुली, दफ़्तरी इन छोटी-छोटी नौकरियों पर हिंदू थे, बेचारे संतुष्ट थे। इस बहाने से पेट भरकर रोटी तो मिल जाती थी। यही कारण था कि लालाजी का तबादला ऐसी जगह कर दिया गया था, ताकि दबकर रहें। परंतु उनकी काम करने की शक्ति और योग्यता के सामने किसी की क्या मजाल जो नुक़्ताचीनी करे। और, वह भी भला ऐसी जाति से, जिसको बादशाहत का ग़रूर और घमंड हो। कहावत है कि मूँज की रस्सी जल जाती है, लेकिन उसके बल नहीं निकलते।

सब बातों के होते हुए लालाजी का चित्त बड़ा उदास था। काम

तो करते ही जाते थे, लेकिन चेहरे से ऐसा प्रतीत होता था कि उन्हें आज किसी बड़ी मुसीबत ने घेर रक्खा है। पानी से भरा हुआ गिलास मेज़ पर ही था, थोड़ी-थोड़ी देर बाद पीते थे। अपनी लड़की के गुम हो जाने की तकलीफ़ इतनी थी, जितनी उसके मरने पर भी न होती। सबेरे से कुछ खाया भी न था। ऐसे समय में मनुष्य का मन, बुद्धि और साहस ठिकाने रहना असम्भव हो जाता है। करते भी, तो क्या? उधर यह डर था कि कहीं पुलिसवाले जाँच के लिये न चले जायँ। अपने मित्र को अवश्य छोड़ आए थे, लेकिन जो अपने से होता है, वह दूसरे से कब हो सकता है?

बैठे-बैठे इसी उधेड़-बुन में थे कि एक बाबू कुछ काग़ज़ लेकर आया और बड़े बाबू की मेज़ पर दस्तखत करने के लिये रख दिए। बड़े बाबू ने वर्क़ लौटने शुरू कर दिए, लेकिन और दिनों की तरह वह फ़ुर्ती न थी, जिससे आनन-फ़ानन में सारे दफ्तर का काम मिनटों में खतम हो जाता था। बाबू बंगाली था, पढ़ा-लिखा बहुत था। उससे न रहा गया, और बोला—"बड़ा बाबू, यदि आपकी तबियत खराब है, तो कल दस्तखत होने सकता है। ज़रूरी काम नहीं! आप कुछ दुखारी है। अगर मैं कुछ काम कर सकता होऊँ, तो बोलो।"

बंगाली बाबू बड़ा अच्छा और प्रेमी आदमी था। दुर्भाग्य से उसे अपना देश छोड़कर यहाँ आना पड़ा था। उसकी इतनी बातों से ही बड़े बाबू पर ऐसा असर पड़ा कि उन्होंने सारा हाल कह सुनाया, और विस्तार-पूर्वक उसके प्रश्नों का उत्तर भी देते गए। बंगाली बाबू बड़े ग़ौर से सारी बातें सुनते रहे, और बीच में हूँ-हूँ भी करते जाते थे। सारा वृत्तांत सुनने पर बोले—"ओह! यह तो बड़ा गोलमाल है। हाँ, आप बतलाइए कि उसने आत्महत्या तो नहीं कर ली?"

"मुझे तो यही संदेह होता है, इसलिये मैंने अपने एक मित्र को

कुएँ में उतारा भी था, लेकिन उसका पता नहीं मिला। कुआँ घर में ही है।"

"ऐसा हो नहीं सकता ; पर इन दिनों वह बात नहीं, जो बंगाल में थी। वहाँ बहुत-सी लड़कियों ने आत्महत्या की। ग़रीब होने के कारण शादी न होने से जलकर मर जाती थीं। ऐसा बहुत हुआ। यहाँ इस देश में तो अभी तक नहीं हुआ। इस देश में तो मुसलमान गोलमाल करते हैं।"

बड़े बाबू को लड़कियों के जलने की समस्या मालूम थी, उन्होंने कोई बात बंगाली बाबू से छिपाना उचित न समझा। अपनी और अपनी स्त्री की पहली रात का वार्तालाप बयान कर दिया, और कहा— "शीला भी सुन रही थी। सम्भव है, उसे इतना दुःख पहुँचा हो कि उसने अपने जीवन को समाप्त करने का ही विचार कर लिया हो। वह ऐसी पुस्तकें पढ़ती भी रहती थी।"

बंगाली बाबू उत्तर देना ही चाहते थे कि दरवाज़े पर अचानक लालाजी के मित्र खड़े हुए दिखलाई पड़े। उनके कपड़े पसीने से तर हो रहे थे। साँस जल्दी-जल्दी ले रहे थे। मित्र को देखते ही लाला कुर्सी से उठ खड़े हुए, और अंदर आने का इशारा किया। लालाजी अपने मित्र की बात सुनने के लिये ऐसे उत्सुक थे कि कई दफ़ा गरदन उठाकर बतलाने का इशारा किया। मित्र ने बंगाली बाबू की ओर देखकर कहा—"सबके सामने कहने की नहीं है।"

"कोई हर्ज नहीं। बंगाली बाबू घर के ही आदमी हैं।"

लालाजी के इस वाक्य को बंगाली बाबू ने सुन लिया। वह फ़ौरन् वहाँ से उठकर चलने लगे। उनकी आदत कचहरी के और लोगों की तरह न थी कि दूसरे के मामले में पैर अटकाएँ, और उनकी बातों में बिला बुलाए दख़ल दें। मगर लालाजी ने "बाबू, रुको" कहकर अपने पास आने का इशारा किया।

बंगाली बाबू ने आगे क़दम बढ़ाया, और कहने लगे—'बड़ा बाबू, आप फ़िज़ूल इतना तकलीफ़ क्यों उठाता है। मुझे घर के मामलों में विशेष दिलचस्पी नहीं।"

लालाजी ने कहा—"ठीक है। लेकिन इस समय मैं अपने काम से आपको बुलाता हूँ, आप हिचकिए नहीं। शायद आप मुझे इस कड़े वक़्त में कुछ लाभ पहुँचा सकें।" लालाजी ने अपने मित्र की तरफ़ मुख़ातिब होकर कहा—"क्या बात है?"

मित्र साफ़-साफ़ कहने के बजाय इधर-उधर की बात कहने लगे। बड़े आश्चर्य में कहा कि लाला प्रभुदयाल घर आए, और बड़ा बुरा-भला कहा। वह अकटी-बकटी भी कहते रहे। मैं ख़ामोश सुनता रहा। लालाजी असली बात जानने के लिये बड़े उत्सुक थे। उन्हें एक पल पहाड़ की तरह मालूम होता था। आख़िर कह ही दिया कि असली बात बतलाओ।

मित्र लालाजी के कान की तरफ़ झुके, और आगे बढ़, झुककर मंत्र फूँकना ही चाहते थे कि लालाजी ने क्रोधित होकर कहा कि आप इनके सामने बतला दीजिए, घर के ही आदमी हैं। इनसे छिपाने में हमें नुक़सान ही होगा। मित्र दुखित होते हुए बोले कि आज सबेरे से वीरेश्वर भी ग़ायब है। उसके कमरे में ताला लटका हुआ है। लाला प्रभुदयाल स्वयं उसके घर गए। फिर आर्य-समाज गए। चपरासी से पूछा। उसने केवल इतना ही कहा कि वीरेश्वर एक पत्र प्रधानजी को लिखकर दे गए हैं।

लालाजी बड़े घबराए। उनको इस बात पर विश्वास करना असंभव प्रतीत हुआ। मन में सोचने लगे कि वीरेश्वर-जैसा पुरुष शीला को भगा ले जाने का कैसे साहस कर सकता है? शायद मेरे कल रात के कहने पर कि शीला का विवाह भागमल के साथ होगा, उसके विचार बिगड़ गए हों, और उसने अपने युवावस्था के जोश में

बुराई-भलाई का ध्यान न कर ऐसा काम करने की चेष्टा कर ली हो।

लालाजी बंगाली बाबू को दफ़्तर में छोड़ मित्र-सहित प्रधानजी के पास पहुँचे। प्रधान कचहरी में वकील थे, और दफ़्तर के पास ही उनके बैठने की जगह थी। दफ़्तर से निकलकर आधी दूर ही पहुँचे थे कि प्रधानजी से मुलाक़ात हो गई। उन्होंने भी यही कहा कि बीरेश्वर के पत्र में लिखा है कि मैं बाहर जा रहा हूँ। कोई ख़ास बात नहीं। परंतु शीला के गुम होने से अनेक प्रकार के संदेह मन में आते हैं; लेकिन लालाजी, वह ऐसा कर नहीं सकता। प्रधानजी को अदालत की आवाज़ लगी, और तुरंत ही आज्ञा ले चले गए। लालाजी ने अपने मित्र से कहा कि मैं भी अभी घर चलता हूँ, साथ-साथ चलेंगे। पुलिस जाँच करने के लिये आ गई होगी।

लाल पगड़ी

कला और उसकी मा घर में बैठी हुई थीं। बाहर के दरवाज़े की कुंडी लगा ली थी। घर में कोई मर्द नहीं था। दोनो रोते-रोते थक गई थीं। आँखें आँसू निकलते-निकलते सूख गई थीं। वे चुपचाप चटाई बिछाए ज़मीन पर बैठी हुई थीं। इतने में कला बोल पड़ी—"दरवाज़े पर कोई है। शायद शीला जीजी हों।" वह दौड़ी हुई गई और कुंडी खोलकर चौखट पर क़दम रखने को ही थी कि उसने एक आदमी सामने ही खड़ा हुआ पाया। पीछे हटकर वह उसकी तरफ़ देखने लगी। आदमी डील-डौल में लंबा, सीना चौड़ा, आधी-आधी बाहों की क़मीज़, सिर पर साफ़ा बँधा हुआ, जिसका तर्ज़ पुलिस की तरह था, कुल्ले रक्खे हुए और हाथ में काग़ज़ों का बंडल लिए हुए था। कला लौटने को ही थी कि उस आदमी ने पूछा—"तुम्हारे बाबू कहाँ हैं?"

"कचहरी गए हैं।" कहकर कला किवाड़ बंद करने लगी।

उस आदमी ने किवाड़ों में धक्का मारा, और बीच दरवाज़े में चौखट पर खड़ा हो गया। आँखें ग़ुस्से से लाल हो गईं। ऐसा मालूम होता था कि किसी ने उसकी सारी इज़्ज़त और रोब पर पानी फेर दिया हो। वह पूछने लगा—"बाबू कब आएँगे?"

कला चुप रही।

"बोलती क्यों नहीं?"

कला ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

"सुनती नहीं है। हम पूछ रहे हैं, और तू पत्थर की तरह खड़ी है। जवाब क्यों नहीं देती?"

कला खामोश खड़ी थी। उसने एक दफ़ा और किवाड़े बंद करने की कोशिश की, लेकिन उस आदमी ने एक हाथ के ज़ोर से ही किवाड़ भिड़ने न दिए।

कला ने उसकी तरफ़ देखा और कहा—"क्या तुम पुलिस के आदमी हो?"

"और कौन होते, अभी तक यह भी नहीं मालूम हुआ! तुम्हारे बाप दफ़्तर गए थे, रिपोर्ट की थी। हम लोग जाँच करने के लिये आए हैं।"

"जब तक बाबू कचहरी से न आ जायँगे, आप कुछ नहीं कर सकते। हमें कुछ नहीं मालूम है।"

पुलिस-कांस्टेबिल को ग़ुस्सा आ गया। उसने ऊपर-नीचे कला की तरफ़ देखा, और अपने एक साथी को बुलाने के लिये पीछे हटा ही था कि कला ने मौक़ा पाकर किवाड़ बंद कर अंदर से कुंडी लगा दी। किवाड़ों की आहट पर कांस्टेबिल ने बढ़कर ज़ोर से धक्का लगाया, लेकिन अब क्या हो सकता था। कला अंदर से ताला लाई और कुंडी में लगा दिया। उसका हृदय धड़क रहा था। वह पुलिस की करतूतों को डाकुओं के अत्याचारों से कम नहीं समझती थी। खासकर यदि पुलिस का नौकर मुसलमान हो, तो उसकी निर्दयता का अनुभव करना कठिन था। हिंदुओं के साथ तो कहना ही क्या था। इन्हीं विचारों में डूबी हुई वह चुप अंदर जा बैठी, और मा के पूछने पर कह दिया, कुछ नहीं, पुलिस का सिपाही था।

दोपहर के बारह बजे थे। सब भले आदमी अपने घरों में बैठे हुए थे। दूकानदार अपनी दूकानों में पर्दा डाले आराम कर रहे थे। दफ़्तर के आदमी अपने काम में लगे हुए थे। चौपाए तक जंगल में पेड़ों के नीचे ज़मीन पर सिर रक्खे हुए नींद के बहाने थकान दूर कर रहे थे। लेकिन पुलिस के कोतवाल साहब दो सिपाहियों-सहित

कोतवाली से लालाजी के घर की तरफ़ आ रहे थे। मोहल्ले के जी-हुज़ूर, मक्कार, आवारा आदमी एक-एक करके उधर की तरफ़ किसी-न-किसी बहाने से जा रहे थे। छोटे-छोटे बच्चों के लिये अच्छा तमाशा था। वे भी कोतवाल साहब के पीछे-पीछे चल रहे थे। जब कभी कोतवाल साहब ज़रा रुकते, बच्चे भी तुरंत वहीं खड़े हो जाते, और चुप उनकी तरफ़ ताकते रहते थे। कोतवाल साहब के पहुँच जाने पर लड़के गली के बाहर कुछ देर तक खड़े रहे। फ़िर इधर-उधर तितर-बितर होकर चले गए।

कोतवाल साहब पहले ही दो आदमी इत्तिला करने के लिये भेज चुके थे। उनमें एक सिक्ख था और दूसरा मुसलमान। मुसलमान सिपाही दरवाज़े पर लगातार धक्के लगा रहा था, और अपनी सारी ताक़त किवाड़े खोलने में लगा चुका था; लेकिन बेकार। सिक्ख सिपाही, जिसे सरदारजी कहकर पुकारते थे, चुप खड़ा था। अपने साथी इलियास के मजबूर करने पर भी उसने किवाड़े खोलने में मदद नहीं दी। इलियास को पहले ही से ग़ुस्सा आ रहा था, सरदार-जी के चुप खड़े रहने पर और भी आँखें लाल हो गईं। एक-दो मर्तबा तो उसने कहा—"सरदारजी, ज़रा ज़ोर लगाओ।" लेकिन जवाब न मिलने पर उसने दो-एक शब्द ऐसे निकाले, जिन्हें कोई हिंदू तो रोज़ाना सुनने पर भी टस से मस न होता, परंतु सरदार सिक्ख होने के कारण बोला—"मियाँ इलियास, ज़रा होश में बोलो।"

इलियास को इतनी बरदाश्त कहाँ। अव्वल तो हेड कांस्टेबिल, दूसरे मुसलमान, तीसरे कोतवाल साहब का मुँहचढ़ा। कोतवाल साहब भी मुसलमान थे। उसने गाली देकर कहा—"सरदार, तुझे बतला दूँगा, किस घमंड में है। ज़रा कोतवाल साहब को आने दे।"

सरदार चुप रहा। कुछ जवाब नहीं दिया, लेकिन इलियास लगातार गालियों की बौछार करता रहा। यहाँ तक कि उसने उसकी

ज़ात पर भी हमला किया। उसके घरवालों को गाली दी। सुनकर उसने धीरे से उत्तर दिया—"मियाँ इलियास, तुम ज़्यादा न बोलो। मैं तुम मियाँ भाई को जानता हूँ। क्यों अपनी ज़बान ख़राब करते हो। तुम दूसरे के ऊपर मर्दानगी दिखा रहे हो। अगर तुममें कुछ है, तो आ जाओ। बकबक करने से क्या फ़ायदा?"

अफ़सरों के मुँहचढ़े अपने आपको न-जाने क्या समझ लेते हैं, और उसी के जोश में छोटे-मोटे आदमियों की तो मजाल क्या, बड़ों-बड़ों को अपना ग़ुलाम समझ लेते हैं। इलियास ने भी कह दिया कि क्राड का बच्चा चुप सुन भी नहीं सकता। यों तो क्राड उस देश में हिंदू को कहते हैं, लेकिन ग़ुस्से में उसके अर्थ गाली के हो जाते हैं। सरदारजी पहले तो कुछ सोचा-विचारी में रहे, लेकिन फिर असली तरकीब समझ में आ गई, और आस्तीन चढ़ा बोले—"सुअर खानेवाला, आ तो, तुझसे ही निबटूँ।"

इलियास का दम ऊपर का ऊपर, नीचे का नीचे। कहता क्या! ज़रा आँख-भौं चढ़ाई, वह भी एक तरह की गीदड़-भबकी। भला सिक्ख-केसरी के लिये उसके अर्थ क्या हो सकते थे। मगर मुसलमानों की आदत। अकड़ और धौंस से दूसरों पर रोब जमाना ही उन्हें आता है; ख़ुदा की क़सम खाकर कहा—"तेरी बोटी-बोटी खा जाऊँगा।"

सरदारजी उस क़ौम के थे, जहाँ बात कम और बहादुरी ज़्यादा है। यों तो ये लोग चुपचाप सुने चले जायँगे, और कमज़ोर को मुसलमानों की तरह कभी दबाने की चेष्टा तक नहीं करेंगे, लेकिन जब कोई अपनी जान की परवा न करता हुआ इनके पीछे पड़ जाय, तो फिर 'वाह गुरू' और वैरी का सिर नीचा। सरदार ने वही किया। इलियास को कौलिया भरकर उठाने ही को थे कि उसने सरदार की दाढ़ी पकड़ ली; फिर क्या था, सरदार ने ज़ोर से ज़मीन पर पटककर दे मारा। "हाय अल्लाह!" की आवाज़, गिरने की आवाज़

में यों ही कुछ सुनाई पड़ी। सरदार उसे गिराकर दरवाज़े पर कुंडी खटखटाने लगा और पुकारकर बोला—"बहिना, कुंडी खोल दो।"

कला ने बहिना की आवाज़ सुनी। आवाज़ से पहचान गई कि कोई हिंदू भाई चिल्ला रहा है। मुसलमानों की बोली की पहचान अलग ही होती है। वह फ़ौरन् दौड़ी हुई आई, और ताला खोलकर किवाड़े खोल दिए। सरदार की सूरत देखकर ज़रा नहीं डरी। सरदार ने भी देखते ही कहा—"बहिना, तुम कुछ ख़याल न करो। उस पाजी को मैंने ख़ूब मारा है।" इलियास की तरफ़ इशारा करके कहा—"आप कोतवाल साहब की जगह जाँच कर लीजिए।"

इलियास अपने कपड़े झाड़ रहा था। इतने में कोतवाल साहब और सिपाही आ गए। उनके पीछे मोहल्ले के मियाँभाई भी थे। एक तरफ़ लाला प्रभुदयाल भी खड़े थे। आप अपनी हमदर्दी दिखाने आए थे। इलियास कुछ कहने को ही था कि सरदार ने कहा—"हुज़ूर, घर पर कोई मर्द नहीं है। दरवाज़ा तो खोल दिया है।" कोतवाल साहब सुनकर चुप हो गए।

इलियास ने पुलिस के रोब में सरदार से मोढ़ा, कुर्सी लाने का हुक्म दिया, और वह सामने की बैठक से उठा लाया, दरवाज़े पर बिछा दिए, और कोतवाल साहब बैठ गए। एक मोढ़े पर लाला प्रभु-दयाल बैठ गए। सरदार ने कोतवाल साहब से पूछकर कि भीड़ हटा दूँ, सबको चले जाने के लिये कहा, लेकिन तब भी दो मुसलमान रह ही गए, जो कोतवाल साहब को बातों में लगाए हुए थे। कोतवाल साहब ने मौक़ा देखने का हुक्म दिया, और सरदार ने दरवाज़े पर यह कहकर कि 'अंदर हो जाओ' कोतवाल साहब से चलने के लिये कहा। उनके साथ-साथ पुलिस का अमला तो जाता ही है, लाला प्रभुदयाल भी चल दिए। इलियास ने उन्हें मना कर दिया। लाला प्रभुदयाल शहर के धनाढ्य आदमियों में से थे। जब दो मुसलमान पिछलगू अंदर जाने लगे, तो सरदार ने भी डपट दिया कि अंदर न जाओ।

वे दोनो कोतवाल साहब के मुँह की तरफ़ देखते रह गए। सरदार ने आख़िर उनको बाहर के दरवाज़े से भी बाहर निकाल दिया।

जाँच करने के बाद कोतवाल साहब कुछ सवाल पूछने लगे। पहले तो कला ने सरदार के ज़रिए उत्तर दिया; मगर कोतवाल साहब उससे ख़ुद पूछना चाहते थे। कला शरमाती हुई बाहर आ गई, और स्कूल की लड़कियों की तरह खड़ी हो गई। सरदार कोतवाल साहब और कला के बीच में खड़ा हो गया। मौक़े के सवाल पूछ सब लोग बाहर चले गए। कला को भी जाना पड़ा। सरदार ने कला की मा से कहा—"मा, तुम डरो नहीं, मैं हिंदू बच्चा हूँ। कला को जाने दो, मैं उसकी हिफ़ाज़त के लिये हूँ। क्या मजाल, जो उससे कोई चूँ भी कर जाय।" सरदार के कहने पर विश्वास हो गया, और कला बाहर चली गई। वहाँ लाला प्रभुदयाल भी बैठे थे, जिन्हें देखकर उसकी आँखें नीची हो गईं।

कोतवाल साहब कुर्सी पर जम गए। इलियास अपना रजिस्टर और दवात-क़लम सँभाल मोढ़े पर बैठ गया। तहक़ीक़ात शुरू हुई। कोतवाल साहब ने इलियास की तरफ़ इशारा किया, और उसने सवाल पूछना शुरू किए।

इलियास—"शीला कौन थी?"

कला—"मेरी बहन।"

इलियास—"छोटी या बड़ी?"

कला—"बड़ी।"

इलियास—"क्या तुम दोनो सगी बहन थीं?"

कला—"हाँ।"

इलियास ने क़लम कान पर लगाकर और रजिस्टर का सफ़ा लौटकर कला की तरफ़ देखा, और पूछा—"बाबू तुम्हारे कौन हैं?"

"मेरे पिता लगते हैं।"

"वह बूढ़ा तुम्हारे कुछ रिश्ते में लगते हैं ?"

"वह मेरे पिता हैं। मैंने एक दफ़ा बतला तो दिया, क्या आपकी समझ में नहीं आया।" कला दोनो हाथ बाँधकर लजा से सँभलकर खड़ी हो गई।

"तुम्हारी बहन का नाम, जो आज से ग़ायब है, क्या है ?" इलियास ने इस फ़िक़रे को ऐसे लहजे में पूछा कि जिससे घृणा का भाव टपकता था।

"उसका नाम शीला है। मैं पहले ही बतला चुकी हूँ।"

"वह तुम्हारी रिश्ते में कौन लगती है ?"

"बहन।" कला को एक बात के बार-बार पूछने पर क्रोध आ गया। हिम्मत करके उसने अपने दोनों हाथों को बग़ल में लगा इलियास की तरफ़ कड़ी निगाह से देखा। वह आगे बढ़ी, लेकिन एक सिपाही ने हाथ के धक्के से पीछे हटा दिया।

कला मामूली लड़की न थी। वह उनके मन का हाल जानती थी। उसको मालूम था कि पुलिस के आदमी बेईमान ही नहीं, बल्कि दुराचारी भी होते हैं। उसने वीरता से कहा—"ज़रा होश में बातें करो।" कोतवाल साहब की तरफ़ मुड़कर बोली—"क्या आप अपने सिपाहियों का बर्ताव देखते हैं ?"

कोतवाल साहब मुस्किराए, और इलियास की तरफ़ आँखों-ही-आँखों में इशारा कर दिया। पुलिस के आदमियों की यह मामूली चाल होती है। इलियास का दिल दूना हो गया, और बजाय सभ्य होने के उसने प्रश्न इस बुरी तरह से पूछे कि सरदार की आँखों में क्रोध झलकने लगा। उसने इलियास को वहीं पर घुड़की देना चाहा, परंतु अवसर उचित न था और चुप ही खड़ा का खड़ा देखता और सुनता रहा।

इलियास ने कई सवाल पूछे, मगर कला चुप रही। उसने ऊपर की

तरफ़ आँख उठाकर देखा तक नहीं। आखिर कोतवाल साहब ने इलियास से कहा कि धीरे से पूछो, और उसके बुरे बर्ताव की कला से माफ़ी चाही। पुलिसवाले मौक़े पर ऐसा करना अपनी शान समझते हैं।

कला ने बहुत-सी पुस्तकें पढ़ी थीं, जिनमें पुलिस के अधिकारियों की नीचता का वर्णन था। माफ़ी माँगने पर भी उसे संतोष न हुआ, और खामोश रहना उसने अपनी कमज़ोरी समझी। वह कोतवाल साहब की तरफ़ मुखातिब होकर कहने लगी—"आप इन चालाकियों को अपने पास ही रखिए। गँवारों में जाकर अपनी शान जताना। आप उसी महकमे के आदमी हैं, जिन्होंने बहला-फुसलाकर, ख़ुशामद, झूठ-सच से, केवल अपने मतलब के लिये अपने दामादों तक को फँसा दिया है। मैं इस माफ़ी से कदाचित् यह नहीं समझ सकती कि आप शरीफ़ हैं।"

कला के इन शब्दों को सुनकर सारे आदमी आँख फाड़कर आश्चर्य से देखने लगे। कुछ लोगों के चेहरे से कला की प्रशंसा ज्ञात होती थी, लेकिन बहुत-से अपने मन में यह ख़याल कर चुके थे कि शीला तो गई, कला के हाथों में भी हथकड़ी अवश्य पड़ जायँगी। एक ज़रा-सी लड़की शहर-कोतवाल को ऐसे ग़ुस्ताख़ाना जवाब दे! जिस कोतवाल को हलवाई और दूकानदार नीचे उतरकर सलाम करें, रास्ता चलते अमीर-ग़रीब आदाब बजा लाएँ, बदमाश "सरकार, अन्नदाता" कहकर मान बढ़ावें, ग़रीब किसान और गाँववाले रक्षक समझें, नीच जातिवाले हुज़ूर कहकर पैरों में लोटें, धनाढ्य आदमी धन से पूजा करें, मतलबी और मक्कार अपना काम चलाने के लिये हर वक्त साथ रहें, ऐसे व्यक्ति के लिये कला कड़े शब्दों का प्रयोग करे, वह भी ऐसी लड़की, जो न अमीर, न विद्वान्, न राजा की बेटी। फिर भला कोतवाल साहब कैसे चुप बैठे सुनते रहें और इज़्ज़त में बट्टा लगवावें!

कोतवाल साहब कुर्सी पर बैठे-बैठे ग़ुस्से में उछल पड़े, और ज़ोर से फटकारकर कला से बोले—"छोटा मुँह, बड़ी बात। मालूम होता है, तुझे अपनी मौत का डर नहीं। जानती नहीं कि मैं तेरा क्या कर सकता हूँ। तुझे यहीं पर जूतों से पिटवा सकता हूँ।"

जूतों से पिटवाना पुलिसवालों का तकिया-कलाम ही नहीं, बल्कि रोज़ाना का व्यवहार भी है। कला इन झिड़कियों की परवा न करते हुए बोली—"आपको भी मालूम नहीं, मैं क्या कर सकती हूँ। आपकी इन बातों से मुझ पर कुछ असर नहीं हो सकता।"

लाला प्रभुदयाल बैठे-बैठे कला के कठोर हृदय की प्रशंसा तो क्या करते, उन्हें यही डर चढ़ गया कि कहीं मामला बिगड़ न जाय। उन्होंने कला को समझाना भी चाहा, किंतु बेकार। कोतवाल साहब ने बीच में बोलने से रोक भी दिया।

इलियास अभी तक तो अपनी इज़्ज़त की ख़ैर मना रहे थे, मगर कला की दृढ़ता देखकर अंदर-ही-अंदर मन में उलझन में पड़ गए। कोतवाल साहब की तरफ़दारी लेने की ख़ातिर बोले—"मालूम है, यह कोतवाल साहब हैं, अगर नाराज़ हो गए, तो सारी अकड़ ख़ाक में मिला देंगे।"

कला हर बात का उत्तर देने के लिये तैयार थी। बात ख़तम होने भी न पाई थी कि उसने कह दिया—"मुझे अच्छी तरह मालूम है। अगर यह कुछ मेरा कर सकते हैं, तो मैं भी कर सकती हूँ।"

इलियास तो उसके मुँह की तरफ़ ही देखते-देखते रह गया। उससे कोई बात न बन पड़ी। कोतवाल साहब ज़मीन पर पैर मारकर बोले—"तू क्या कर सकती है?"

"और तुम क्या कर सकते हो?"

"मैं? मैं तुझे अभी ज़िंदा ज़मीन में गड़वा सकता हूँ।"

"मैं भी तुम्हें ज़िंदगी से हाथ धुलवा सकती हूँ।"

कोतवाल साहब ने ग़ुस्से में आकर जो कुछ ज़बान पर आया,

बक डाला। पुलिस के आदमी से ऐसे अवसर पर सभ्यता के वाक्य सुनना ऐसा है, जैसे साँप की ज़बान से अमृत निकलना। कोतवाल साहब ने गाली-गलौज तो की ही, कुर्सी से उठकर सिपाही से घोड़े की चाबुक लेने के लिये हाथ बढ़ाया, और पीटने की पूरी तैयारी कर ली। सारे उपस्थित मनुष्य इस घटना से चकित थे। सबको कला की आबरू का डर था। ऐसा न हो, जो कुछ अनुचित उपद्रव उठ खड़ा हो। यह तो पुलिस के बाएँ हाथ का खेल है।

कला ने भी सोच रक्खा था 'डरा, सो मरा'। जब ओखली में सिर दिया, तो मूसलों से क्या डर ? या तो अभी कोतवाल को मार-कर फाँसी पर ही लटकना है या कुत्ते की मौत ही मरना पड़ेगा। वीरता से मरना गौरव है। कायरता वीर स्त्रियों का ज़ेवर नहीं। एक तरफ़ कोतवाल साहब ने अपना चाबुक सँभाला, दूसरी तरफ़ कला ने अपनी जेब से चाक़ू निकाला, यद्यपि वह क़लम बनाने ही का था। दोनो तरफ़ से मामला तुल गया। सरदार ने भी सोच लिया कि पुलिस की नामवरी पाने से केवल एक रुपया वेतन में बढ़ जायगा, मगर कला को बचाने और उसका मान रखने में मृत्यु के बाद भी नाम रहेगा। उसने अपने मन में 'वाह गुरू' का नाम जपा, और साफ़े पर हाथ रखकर कृपाण टटोल लिया।

कोतवाल साहब ने एक झिड़की दी, और चाबुक चटखाया। कला ने जवाब में चाक़ू खोल लिया, और बोली—"आज मैं भी उस वीर क्षत्राणी की तरह, जिसने अकबर की छाती पर चढ़कर खंजर खींच लिया था, तुम्हारा भी वही हाल करूँगी। वह अकबर की चापलूसी में आ गई थी। परंतु मैं बग़ैर काम तमाम किए न छोड़ूँगी।" ऐसा कह उसने अपना सीधा क़दम आगे बढ़ाया, और चाक़ू की नोक उसकी तरफ़ कर ली। सरदार मौक़ा देख रहा था। लोगों की निगाह या तो कला की तरफ़ थी या सरदार की तरफ़।

लाला प्रभुदयाल का दम निकल रहा था। बस, कुछ सेकंडों की देर थी कि लाला दीनदयाल और उनके मित्र मौक़े पर आ पहुँचे। इस दृश्य से चकित हो, सहमकर खड़े हो गए। लाला दीनदयाल ने पहले कला से कहा—"बेटी, तुम अंदर जाओ।" कला ने ऐसा ही किया। पिता की शिक्षा से ही उसमें वीरता आई थी, और वह भला-बुरा समझने योग्य हो गई थी, और उन्हीं की आज्ञा का पालन करना वह परम धर्म समझती थी। लालाजी ने फिर कोतवाल साहब से पधारने की प्रार्थना की। कोतवाल साहब गर्म हो ही रहे थे, अकटी-बकटी कहने लगे।

लालाजी ने उनको जैसे-तैसे ठंडा किया। एक आदमी को भेज-कर ख़ातिर-तवाज़े का सामान मँगवाया। कोतवाल साहब ने बड़ी मुश्किल से एक सिगरेट क़बूल की। उनका मिज़ाज ग़ुस्से से बिगड़ा हुआ था। बग़ैर कोई सवाल किए उन्होंने कला की सारी बातें कह डालीं। लालाजी ने माफ़ी माँगी, और प्रार्थना की—"लड़की है, उसकी बात का बुरा मानना ठीक नहीं। आप मुझे पचास बातें कह लें। आजकल की प्रथा ऐसी है कि लड़के और लड़की किसी की बात सुनना या मानना बुरा समझते हैं।"

कोतवाल साहब अपना मरसिया पढ़ते ही रहे। ख़ैर, ज्यों-त्यों करके उन्हें दिलासा दिया गया और उनकी तहक़ीक़ात की कमी पूरी की गई। पचास रुपए उनके हवाले किए गए, फिर तो दिमाग़ ठिकाने आ गया। रुपए के लिये तो उन्हें इज़्ज़त बेचना मंज़ूर थी। ख़ुद ही कहने लगे—"लालाजी, लड़की थी, क्या जाने, ऐसा हो ही जाता है। आप इसका ख़याल न करें। हमें भी लोगों के दिखाने के लिये करना पड़ता है।"

लालाजी ने स्वीकार किया, और सलाम-दुआ के बाद रुख़सत हुए। सरदार लालाजी से 'वाह गुरू' की कह सूक्ष्म में कहने लगा—"कला बड़ी वीर लड़की है। गुरुजी उसकी उम्र क़ायम रक्खें।"

वीरेश्वर पर दंड

लाला प्रभुदयाल सबेरे-सबेरे उठे। नहाए, कपड़े बदले, अपनी स्त्री से कहा कि आज खाना नौ बजे तैयार हो जाय, ज़रूरी काम के लिये बाहर जाना है। यदि देर हो गई, तो भूखे ही जाना पड़ेगा। उनकी स्त्री कारण पूछती ही रह गई। लाला साहब बाहर चले गए, और पैदल ही कोतवाल साहब के मकान पर पहुँचे। उस वक़् वह अपने काग़ज़ देख रहे थे। शहर के दो सेठ भी वहाँ बैठे हुए थे। आदर-सत्कार के बाद कोतवाल साहब ने कहा—"आइए सेठजी, आपकी इंतज़ारी में हम लोग बहुत देर से उत्सुक थे।" सेठजी ने देर हो जाने की क्षमा माँगी, और चुप बैठ गए।

कोतवाल साहब ने इन लोगों को ख़ास काम से बुलाया था। लाला प्रभुदयाल ने बग़ैर कोतवाल साहब के पूछे हुए ही वीरेश्वर और लाला दीनदयाल का सारा हाल बतला दिया था। घर का भेदी बुरा होता है। उन्होंने यहाँ तक कह दिया था कि शीला की शादी उनके पुत्र भागमल के साथ तय हो चुकी थी, और लाला दीनदयाल की धर्मपत्नी राज़ी थीं, मगर लाला साहब इनकार कर रहे थे। वीरेश्वर ने उन पर ऐसा सिक्का जमाया कि लालाजी मोहित हो गए, और सदा अपनी स्त्री से भागमल के विरुद्ध उलटा-सीधा कहते रहे। जिस रोज़ शीला भागी थी, वीरेश्वर भी मौजूद न था। लालाजी अपनी कथा कहते ही चले जाते थे, लेकिन कोतवाल साहब को अपनी मतलब की बात पूछनी थी। उन्होंने कहा कि आपको अदालत में भी यही कहना पड़ेगा।

लालाजी ने सिर झुकाकर नम्रता से कहा—"अवश्य, सच बात

कहने में क्या डर ? फिर वह, जिसमें आपका काम बने। आपके लिये तो चाहे जो कुछ कहना पड़े, मैं हर वक्त तैयार हूँ।"

कोतवाल साहब ने शुक्रिया अदा किया, और पास बैठे हुए सेठों से पूछा—"आप क्या कहेंगे ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"जो सरकार कहें।"

कोतवाल साहब ने उन्हें यही पढ़ाया कि वह लाला प्रभुदयाल की बात की ताईद कर दें। मामला बना-बनाया है।

"बहुत अच्छा हुज़ूर," लेकिन उनमें से एक बोल उठे—"इस बात का क्या सबूत है कि लाला दीनदयाल की स्त्री यहीं शादी करना चाहती थीं, कोई चिट्ठी-पत्री भी है या नहीं ?"

कोतवाल साहब की अक़्ल यहाँ तक पहुँची भी न थी। सुन-कर लाला प्रभुदयाल की तरफ़ देखने लगे।

लाला प्रभुदयाल तुरंत ही बोल उठे—"इसका सबूत मैं दूँगा। आप लोग न घबराएँ। मेरे पास बड़ी सच्ची गवाही है।

"क्या कोई ख़त है ?" एक सेठ ने पूछा।

"नहीं।"

"क्या लाला दीनदयाल की स्त्री कह देंगी ?"

"यह भी नहीं। उनको अदालत में पेश करना ठीक न होगा।"

"ऐसी कौन-सी बात है, जिससे भागमल की सगाई शीला के साथ होती थी ?"

लाला दीनदयाल ने सिर ऊपर उठाया, और कोतवाल साहब की तरफ़ देखकर जवाब बतलाने की आज्ञा चाही। कोतवाल साहब ने आँखों के इशारे से बतलाने के लिये कह दिया।

"सुनिए, शीला की शादी भागमल के साथ होती थी। इसका ज़रूरत से ज़्यादा सबूत है। उनके पड़ोस में नसीबन रहती है, वह बड़ेमियाँ की नौकरानी है। सब लोग जानते हैं, बेचारी बहुत सच्ची,

सीधी और भोली है। एक दिन शीला के ग़ायब हो जाने के बाद वह मेरे मकान पर आई, और उसने साफ़ तौर पर कह दिया कि शीला की मा पिछले सोमवार को मेरे यहाँ सगाई भेजनेवाली थीं। नसीबन और शीला की मा का बड़ा भारी मेल है। वह यह भी कहती थी कि शीला मेरे लड़के से संबंध होने पर रज़ामंद नहीं थी।"

सेठजी बोले—"लड़की ऐसा कैसे कह सकती है? यह बात नहीं मानी जा सकती।"

लाला प्रभुदयाल खिलखिलाकर हँस पड़े—"वाह सेठजी, आप लाला दीनदयाल की लड़कियों को अपने यहाँ की-सी न समझिए। उसकी छोटी बहन को देखो, तो दाँत-तले उँगली दबा जाओ। शर्म-लिहाज़ का तो नाम नहीं। ऐसी मुँहफट है कि बड़े-छोटे को एक लाठी से हाँकती है। तहक़ीक़ात के दिन उसने कोतवाल साहब से बड़ी बहस की, क्या कोई बालिस्टर करेगा। वह तो आप ही थे, (कोतवाल साहब की तरफ़ इशारा किया) जो ख़ामोशी से सुनते रहे। और कोई होता, तो उसी रोज़ न-जाने क्या-से-क्या हो जाता।"

सेठजी ने सुनते ही कानों पर हाथ रख लिया।

"मगर लाला दीनदयाल बड़े सीधे आदमी हैं, और मा की आप प्रशंसा कर चुके हैं।"

"सब कुछ ठीक। लाला दीनदयाल ने इन लड़कियों को आर्य-पाठशाला में पढ़ाया है। वहाँ लड़कियाँ निर्लज्ज बनाई जाती हैं। घर के काम-काज, रोटी करने को तो बुरा समझती हैं। किताब, अख़बार पढ़ना, चाहे जिसके साथ बात करना, परदा न करना, ज़ेवर न पहनना अच्छा समझती हैं। उनकी शिक्षा बड़ी बुरी है। मर्दों की बराबरी करना! आप ही देखिए कोतवाल साहब! कौन-से धर्म में है। मुसलमानों के यहाँ परदा करना कितना ज़रूरी है। जिस औरत ने कपड़े के परदे को ही नहीं रक्खा, वह आँखों का परदा क्या रख सकती है।"

सेठजी को विश्वास हो गया कि लाला प्रभुदयाल ठीक कहते हैं। वह आर्यों के नाम से चिढ़ते थे। कोई बात उनके ख़िलाफ़ कही जाय, फ़ौरन् मान लेते थे। कोतवाल साहब की तरफ़ मुख़ातिब हो-कर उन्होंने कहा—"अब मामला पक्का है। वीरेश्वर को बग़ैर सज़ा हुए नहीं रहेगी, उसी का काम भगा ले जाने का है। हाँ, कोतवाल साहब, अदालत कै बजे पहुँच जायँ ?"

कोतवालसाहब ने जवाब दिया—"बारह बजे। मुक़दमा मोहम्मद सादिक़हुसैन साहब के यहाँ है। आप लोग वक्त पर आ जायँ, नसीबन को मैं ख़बर कर दूँगा।" कहकर वह खड़े हो गए, और आदाब अर्ज़ कर रुख़सत किया।

शीला के गुम हो जाने की ख़बर सारे शहर में फैल चुकी थी, लेकिन इसके सिवा लोगों को कुछ ज़्यादा मालूम न था। अपने-अपने विचार के अनुसार यही अनुमान निकालते थे कि बड़ी लड़कियों को कुँवारी रखना उचित नहीं। कचहरी में अदालत के सामने भीड़ थी। लोग आ-जा रहे थे। लाला दीनदयाल बेंच पर माथे पर हाथ रक्खे बैठे थे। उनके आर्य-समाजी मित्र उन्हें धीरज बँधाने के लिये बार-बार आ रहे थे। सबसे पहला मुक़दमा यही पेश होने को था। कोतवाल साहब भी बंद गाड़ी में आए, और कोचवान को हिदायत कर दी कि गाड़ी वहीं खड़ी रक्खे। उतरने के बाद कोतवाल साहब ने गाड़ी की खिड़की तुरत बंद कर दी। लोगों की इच्छा इतनी बढ़ी हुई थी कि गाड़ी के चारो तरफ़ घूम फिर जाते थे, और कोचवान से पूछने का साहस करके वहाँ तक पहुँचने भी न पाते थे कि उलटे लौट आते थे। डिप्टी साहब आ गए। मुक़दमा पेश हुआ। सरकारी वकील भी मुसलमान था।

कोतवाल साहब ने सारी कार्रवाई बयान होने पर सुना दी, और वीरेश्वर को मुलज़िम करार दिया। डिप्टी साहब के हुक्म पर वीरेश्वर

हवालात से लाया गया। उसके हाथों में हथकड़ी पड़ी हुई थी। रास्ते में मुसलमान कहते जाते थे कि लोग बदनाम करते हैं कि मुसलमान हिंदू लड़कियों को भगाकर ले जाते हैं, लेकिन यह पता नहीं कि ऐसे-ऐसे पढ़े-लिखे भी औरतों की चोरी करते हैं। वीरेश्वर के कानों में इन बातों की भनक पड़ जाती थी, लेकिन करता क्या? गवाही के लिये पहले लाला प्रभुदयाल खड़े हुए। वह कोतवाल साहब के पढ़ाए हुए थे। जो कुछ पूछा गया, वह कोतवाल साहब के मुआफ़िक़ और वीरेश्वर के ख़िलाफ़। लाला दीनदयाल चुप सुनते रहे।

लाला प्रभुदयाल के कारण मुक़दमा बन गया, लेकिन कोतवाल साहब ने एक गवाह पेश करने की और प्रार्थना की। स्वीकार होने पर वह गाड़ी से बुर्क़ा पहने हुए एक औरत को लाए। बयान हो गया, सबूत ठीक। नसीबन ने घर का सारा हाल कह डाला। फ़ैसला होने पर वीरेश्वर को दो साल की सज़ा हुई। बेचारे ने बहुत कुछ कहा, परंतु व्यर्थ! जिस अदालत में सारे मुसलमान अधिकारी हों, और वे एक ऐसी संस्था के विरुद्ध, जैसे आर्य-समाज, वहाँ वीरेश्वर की जीत होनी कठिन थी। फ़ैसला सुनते ही वीरेश्वर को जेल ले जाया गया। कोतवाल साहब ने अदालत से निकलते ही कथों को मचकाकर, मूछों पर ताव देकर अपने यार-दोस्तों को सफलता की ख़बर सुनाई। लोगों को आश्चर्य केवल एक बात का था। लाला प्रभुदयाल इतने बड़े धनाढ्य होते हुए और उसी जाति के, उस पर भी रिश्तेदार, किस तरह से ख़िलाफ़ गवाही देने गए।

एक मुँहफट ने कह दिया—"आप सब लोग बेवक़ूफ़ हैं। रईस तो अपना मतलब देखते हैं। कोतवाल साहब के ख़िलाफ़ कहते, कल ही डाका पड़ता या चोरी होती। लाला दीनदयाल क्या कर सकते हैं!"

लोगों की समझ में इतना तो आ गया कि पुलिस से अमीर

आदमी वैर करके नुक़सान ही उठाएगा। जितनी बुराई लाला दीनदयाल की थी, उतनी ही लाला प्रभुदयाल की भी। अंतर इतना था कि मुसलमान और पुलिस लाला प्रभुदयाल के भक्त हो गए।

इस मुक़दमे के कारण कोतवाल साहब का रोब दूना बढ़ गया। आपने एक ऐसे मामले को खोज निकाला, जिसमें सैकड़ों हाथ पर हाथ रक्खे रह जाते हैं। परमात्मा की दया हुई कि आप उसी सप्ताह में डिप्टी-सुपरिंटेंडेंट के ओहदे पर नियत कर दूसरी जगह भेज दिए गए, और उनकी जगह एक सिक्ख शहर-कोतवाल होकर आए। आपके आते ही मुसलमानों में हलचल मच गई। अफ़सर लोगों की बुराई तो बदली होने से पहले ही पहुँच जाया करती है। बलवंतसिंह जहाँ भी रहे, मुसलमानों को नाकों चने चबवा दिए। लोगों में ख़बर हो गई कि अब कुछ होकर रहेगा। हिंदुओं के भी जी में जी आ गया। लाला दीनदयाल उनसे मिलने गए, और सच्चा हाल कह सुनाया। वीरेश्वर को उन्होंने बिलकुल बेगुनाह बतलाया। सरदार बलवंतसिंह ने उत्तर दिया कि आप घबराएँ नहीं। मैंने सैकड़ों मुसलमानों को पकड़ा है, आज तक कोई हिंदू इधर की तरफ़ ऐसा काम नहीं कर सकता। गुरुजी ने चाहा, तो मामला उलटेगा, आप धैर्य रक्खें।

बेटी का भार

कहावत है—"दूध का जला छाछ भी फूँक-फूँककर पीता है।" लाला दीनदयाल को कहाँ तो शीला भी शादी योग्य नहीं मालूम होती थी, कहाँ उसके खो जाने पर कला की फ़िक्र पड़ गई। दो-चार महीने उनकी धर्मपत्नी चुप रहीं, और शीला के वियोग में दिन-दिन दुर्बल ही होती चली जाती थीं। परंतु उन्होंने भी उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते तोते की तरह रट बाँध ली कि कला का विवाह इसी साल हो जाय। वर तलाश कर ही लिया है।

लाला दीनदयाल मजबूर थे। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी के आग्रह और दुःखित होने के कारण ब्याह का हो जाना ही उचित समझा। दोनो ने भागमल को ही पसंद किया। नक़द छ हज़ार रुपए ठहरे। शहर के लोगों में सनसनी फैल गई कि लाला दीनदयाल को कोई वर नहीं मिला, जो ऐसे कजूस घर ब्याह की ठहरा ली। उधर लाला प्रभुदयाल को संतोष था कि छ हज़ार तो अब मिल ही जायँगे, बाक़ी माल-ताल सारा उनके पुत्र भागमल के नाम ही चढ़ जायगा। विवाह का दिन आ ही गया। लाला प्रभुदयाल ने सारे शहर के रईसों और हाकिमों की दावत की। विशेषकर पुलिस के अफ़सर और कचहरी के अधिकारी थे। लाला दीनदयाल ने पत्र द्वारा और स्वयं मिलकर यही प्रार्थना की थी कि बरात में ५० आदमियों से अधिक न आवें. किंतु भारतवर्ष के मालदारों का तो कहना ही क्या, ग़रीब-से-ग़रीब, जिसके पास खाने को नाज तक न हो, १०० आदमियों से कम ले जाने की चेष्टा नहीं करता। लाला प्रभुदयाल ने पाँच

सौ आदमियों का अंदाज़ा किया, और ले भी इतने ही गए। शहर के शहर में बरात थी। किराया-भाड़ा भी ख़र्च न करना पड़ा।

प्रसिद्ध है कि बनियों का रुपया न तो ठीक तरह दान में ही काम आता है, न किसी अच्छे काम में लगता है, किंतु विवाह और मौत में दिल खोलकर लगाया जाता है। घर में चाहे बिना साग के रोटी खाई जाय, नंगे पैरों फिरें, रात को दीपक न जले और पैसे के तीन धेले बनाए जायँ, पेट काटकर, कौड़ी-कौड़ी बचाकर धन इकट्ठा किया जाय, वह यदि ख़र्च हो, तो ब्याह में। लाला प्रभुदयाल भी उसी गिनती में थे। पाँच सौ आदमियों का समूह शाम के चार बजे बाजे-गाजे-सहित दुश्मन की फ़ौज की तरह लाला दीनदयाल पर आ चढ़ा, और उन्हें अपनी इज़्ज़त रखने में सब कुछ करना पड़ा। इस देश का मान केवल इसी बात में रह गया है।

सायंकाल को पंडित, पुरोहित, नाई की जो कुछ भी कार्रवाई थी, समाप्त हुई। दरवाज़े पर लाला दीनदयाल को खनाखन छः हज़ार रुपए का भरना भरना पड़ा। उसके देने से वह संसार के बड़े भारी पाप से बच गए। बेटी के ऋण से छुटकारा मिल गया। भाँवर पड़ने का समय पंडितों ने रात के दो बजे का निकाला। सबको स्वीकार था। वही घड़ी लड़के और लड़की के लिये शुभ थी। भाँवर से पहले भोजन कराने की तैयारी की गई। निमंत्रण जनवासे में भेज दिया गया। इधर मिठाई-पकवान की झालों-पर-झालें बँहगियों में लगा-कर कहारों के हाथ भिजवाना शुरू कर दीं। लाला दीनदयाल के सारे मित्र नंगे पैर इधर-से-उधर कठपुतलियों की तरह काम में नाचते फिरते थे। एक-दो को खिलाना हो, तो निबट भी जाय, अब तक तो पाँच सौ की ही गिनती थी, खाना खिलाते समय न-जाने कितने और हो गए।

पहली पंक्ति बैठ चुकी थी। खाना परसा जा चुका था कि अचानक आकाश में बादल घिरने लगे, तारे छिप गए। आँधी भी चलने

लगी। खानेवाले खाते रहे। अचानक वर्षा होने लगी। बराती अपनी-अपनी पत्तल छोड़ अंदर जाने लगे। इधर बेटीवाले की ओर के आदमी छप्पक-छप्प करते फिरते थे। उनके लिये दुबारा खाना परसा। वही कचौड़ियों की झालें गर्म-गर्म उतरकर आती जाती थीं और खाने को दी जाती थीं। लेकिन खानेवालों का दिमाग़ न-जाने कहाँ था। 'गर्म दीजिए साहब' की पुकार हर तरफ़ से आती थी। पत्तलों पर ढेरों कचौड़ियाँ, पूरियाँ और मिठाइयाँ पड़ी थीं, परंतु फिर भी माँगते चले जाते थे। परसनेवालों को साहस कहाँ कि इतना कह दें, "पहले इन्हें तो निबटाइए।" न ऐसा कह सकते थे, वे तो 'हाँ जी' के चाकर थे। बरातियों की मत उलटी हो ही जाती है। सीधे-से-सीधे आदमी के पर निकल आते हैं। इसी कीचड़, मेह, बादल, अँधेरी, बिजली, सर्दी और भयानक रात में ज्यों-त्यों करके बरातियों को खिलाकर निबटे। बेचारे दीनदयालजी का गला पड़ गया था। सामान जो दो रोज़ के लिये इकट्ठा किया था, पहली ही रात को आधे से अधिक समाप्त हो चुका था। अगले दिन की फिर अभी से तैयारी करनी थी। ईश्वर की कृपा थी, रुपया पास था। न भी होता, तो दस जगह से रुक्क़ा-परचा करके उधार-पानी करते और करना पड़ता, चाहे जीते-जी क़र्ज़ा तो अलग, सूद भी न चुका सकते।

विवाह में बात-बात पर झगड़ा होना मामूली बात थी। किसी प्रकार दो दिन मुसीबत के कटे, कला की रुख़सत की तैयारियाँ की गईं। जहाँ स्त्रियों पर अनेक प्रकार के सैकड़ों अत्याचार हैं, उनमें एक गहना भी है। लाला प्रभुदयाल मालदार तो थे ही और भागमल उनका इकलौता लड़का था, जितना भी ज़ेवर घर का था, सब चढ़ावे में चढ़ा दिया। बेटेवाले की शान इसी में है। अपनी मा, दादी, बहू और जो कुछ गिरवीं का रक्खा हुआ था, वह भी ले आए थे। कला ने सब गहना पहना।

कला उन लड़कियों में से थी, जो ज़ेवर को असली गहना नहीं, बल्कि विद्या को गहना समझती हैं। उसके लिये यह सब पाखंड था। शरीर की मामूली थी, इतना गहना क्योंकर सहन कर सकती थी। वह भी यदि नाप का बने, तो ठीक भी है। कोई चीज़ सास की, कोई ददिया सास की, बहुत-सी इधर-उधर की। ख़ैर, नाइन ने डोरी से बाँधकर सारी चीज़ें पहना ही दीं। कला ने भी समझ लिया कि आज ज़ंजीरों में जकड़ गई। ग़रीब को पैर उठाना भी भारी पड़ गया। पड़ोस की स्त्रियाँ गहना देख-देख सिहाती थीं। जिनकी आदत देखकर जलने की होती है, वे अपने मन में कुढ़ रही थीं। स्त्री-प्रकृति से मजबूर थीं। जिनकी बेटियों को कम गहना चढ़ा था, वे नाक-भौं चढ़ाकर अपनी-अपनी बातें एक दूसरे से कह रही थीं। क्या हुआ, लड़का तो आठवें तक ही पढ़ा है। हमारा जमाई इंट्रेंस पास है, नौकर भी अच्छी जगह है। इसी तरह दूसरी भी कहती, हमारी बेटी को सोने की ऐरन भी चढ़ी थी। होठ बिचका-बिचकाकर अपने दिल की कुढ़न निकाल रही थीं। कला की मा सबकी सुनती थी, और चुप थी।

पलकाचार होने के बाद बहुत-सी रस्में हुईं। उनमें से एक जूती चरवाई की भी थी। पड़ोस की एक लड़की से, जो कला के साथ पढ़ती थी, जूती चुरवाने का काम लिया गया। नेग देते समय कुछ हील-हुज्जत होने लगी। कला की मा दौड़ी हुई आई, और सुनकर आँखों में आँसू भर लाई। लाला भागमल नीची निगाह किए अपने एक जूते की ओर देखते रहे। विवाह के समय जमाई अधिक बोलना चाहते हैं या नहीं, या उनसे कोई मना कर देता है, यह अनुभवी ही जानें। बुत की तरह चुप खड़े थे। उनकी सास ने कहा—"लाला, यह नेग क्या दे रहे हो!"

भागमल ने नीची निगाह किए कहा—"दो रुपए।"

कला की मा कटाक्ष करने में चतुर थी। बोली—"मा ने दो रुपयों के लिये कहा था या एक के लिये ?"

भागमल ख़ामोश थे।

उधर से एक स्त्री ने आगे बढ़ते हुए कहा—"बहना, तंग मत करो। मा से बिछुड़े हुए दो दिन हो गए, याद आ रही होगी।"

भागमल ने इस आवाज़ को पहचान लिया, और ऊपर आँखें उठाकर देखने लगे। इतने में सास ने कहा—"लाला, पाँच रुपए दे दो। आज को मेरी शीला होती, तो क्या नेग में दो रुपए ही ले लेती।" कहते-कहते रोने लगी। तुरंत ही एक स्त्री ने कहा—"कला की मा, शुभ काम में रोना ठीक नहीं। तुम इधर आ जाओ, यह सब अपना भुगत लगे।" (हाथ पकड़कर, खींचकर अंदर ले गई) कला भी पलँग पर गठरी बनी हुई रो रही थी। बेचारी ऊपर को गर्दन उठाती भी, तो कोई-न-कोई दबोच देती। फेरों और पलँग के समय न-जाने स्त्रियों का कौन-सा पुराना ढंग है कि लड़की तो सिर को गुड़ी-मुड़ी करके बैठ जाय, चाहे लड़का कैसे ही क्यों न बैठे। कला शादी से पहले ये सब बातें कहा करती थी, और हँसी भी उड़ाती थी, परंतु समय पर चुप थी, कुछ वश न चलता था। इतने अत्याचारियों के सामने छोटी-सी लड़की क्या कर सकती है। समय पर कभी ये ही छोटी लड़कियाँ कुछ करके भी दिखला देंगी, कुछ असंभव नहीं। एक दिन आवेगा ही। कला के मन में ये ही विचार थे, और शरीर पसीने से नहा रहा था। परमात्मा न-जाने कब छुटकारा देगा।

रुख़सत होते ही बेचारी को पालकी में बैठना पड़ा, जिसके दोनो दरवाज़े बंद कर दिए गए, और ऊपर से पर्दा डाल दिया गया। इस दुःख का क्या ठिकाना था। कला ने अपने मन में अवश्य सोचा होगा कि यदि मुझे मर्दों पर अधिकार मिल जाय, तो इसी प्रकार

बंद करके ले जाऊँ। न-जाने इन्होंने हमें चोर समझ रक्खा है, या इनकी बुद्धि पर पत्थर पड़े हुए हैं, जो व्यर्थ सच्ची और सीधी लड़कियों को कष्ट देने में अपना गौरव समझते हैं।

ससुराल में जाकर उसे एक कोने में, अंदर की कोठरी में, बिठला दिया गया। वहीं खाना, वहीं पीना। रात-दिन वहीं बाहर की स्त्रियाँ आतीं, और मुँह देखकर चली जाती थीं। कला सात दिन रही। उसे सात दिन सात साल के बराबर थे। लौटकर जब घर आई, तो अपने पिता से मिलकर रोने लगी। उसके पिता ससुराल का हाल पूछते, तो चुप हो जाती। इतना अवश्य कह दिया करती थी कि संसार में गहना, रुपया, धन, ऊँचे मकान, दावतें, अच्छे कपड़ों के अर्थ विवाह नहीं है, जैसा कि हम समझते हैं। विवाह कुछ और है। यदि ग़रीबी भी हो, और प्रेम-सहित, धर्म के अनुसार स्त्री-पुरुष चलें, तो यही वास्तविक जीवन है।

लाला दीनदयाल सुनकर गर्दन हिलाने लगे, और चुप हो गए।

पवित्र आत्मा

कला के विवाह को लगभग दो वर्ष हो चुके थे। वीरेश्वर भी जेल काटकर लौट आया। उसे केवल आर्य-समाजियों ने ही अपनाया। वहीं, एक कोठरी में, उसने रहना-सहना शुरू कर दिया। कई दफ़ा उसने लाला दीनदयाल से मिलने की इच्छा की, लेकिन उसके हृदय में वही बात चोट कर जाती कि न-जाने वह क्या समझेंगे।

आखिर एक दिन शाम को उनके मकान पर मिलने पहुँच ही गया। कुंडी खटखटाई। लाला दीनदयाल अंदर बैठे हुए थे। बाहर आकर कुंडी खोली, और वीरेश्वर को देखकर बड़े प्रेम से छाती से लगाया। हाथ पकड़कर अदर लिए चले गए। वीरेश्वर अंदर जाने में ज़रा झिझका, परंतु लालाजी ने पीठ पर थपकी देकर कहा—"बेटा वीरेश्वर, चले आओ, तुम्हें शरमाना उचित नहीं, हम तुम्हें अपने घर का-सा ही समझते हैं।" वीरेश्वर नीची निगाह किए हुए अंदर चला गया। कला और उसकी माता को देखकर नमस्ते की। लाला दीनदयाल ने कुर्सी बाहर घसीटकर बैठने का इशारा किया, और स्वयं चारपाई पर बैठे। उनकी स्त्री पीढ़ा बिछाकर एक तरफ़ बैठ गई। कला ने अपने पिता की रुचि देख एक थाल में कुछ मिठाई लगाई, और अपने पिता के सामने लाकर रख दी। हाथ धोने के लिये पानी भी रख दिया।

वीरेश्वर इतनी देर हाथ पर हाथ रक्खे चुप बैठा रहा। आग्रह करने पर उसने हाथ धोए, और खाना भी शुरू कर दिया।

कला खड़ी हुई पंखा झल रही थी। लालाजी ने हँसते हुए कहा—"मिठाई जेल में मिल जाती थी?"

वीरेश्वर ने गंभीरता से उत्तर दिया—"नहीं।"

लाला दीनदयाल की स्त्री ने पूछा—"खाने को क्या-क्या मिलता था?"

"सबेरे दाल-रोटी, शाम को कोई एक तरकारी और रोटी। नाश्ते के लिये चने मिलते थे।" कहकर वीरेश्वर अपने हाथों की तरफ़ देखने लगा, और उसके चेहरे पर पीलापन-सा छा गया।

लाला दीनदयाल ताड़ गए और समझ गए कि जिन हाथों ने सदा काग़ज़ और क़लम के अतिरिक्त कुछ नहीं उठाया, उन्हें जेल में कसला चलाना पड़ा होगा, रस्सी बटनी पड़ी होगी, पीसना पड़ता होगा, बेंत खाने पड़ते होंगे। उनका विचार ठीक था, और वीरेश्वर को उस कठिनाई के समय की याद न दिलाने की ग़रज़ से उन्होंने पूछा—"कहो वीरेश्वर, तुम्हारी नौकरी का कुछ हुआ?"

वीरेश्वर ने धीमी आवाज़ में कहा—"यत्न कर रहा हूँ। यह तो आप जानते ही हैं कि सरकारी नौकरी नहीं मिल सकती। स्कूल में भी जगह कौन देगा। किसी बड़े आदमी के बच्चे पढ़ाने पड़ेंगे। वह भी १०-१५ रुपए महीने पर। अकेले के लिये दो ट्यूशन बहुत होंगे। हाँ, एक बात आपसे पूछना चाहता हूँ, और वह अलग पूछने की है।"

लाला दीनदयाल उसके मुँह की ओर देखने लगे, और फिर अपनी स्त्री की तरफ़ देखा। वीरेश्वर कुछ कहने को ही था कि लाला-जी बोले—"कोई हर्ज नहीं, यदि तुम इनके सामने भी कह दो।"

"कहाँ तक ठीक है कि लाला प्रभुदयाल ने दो हज़ार रुपए शहर-कोतवाल और डिप्टी साहब को मेरे मामले में दिए थे।" वीरेश्वर ने केवल इतना ही कह पानी का गिलास हाथ में ले लिया, और उत्तर सुनने के लिये उत्सुकता से उनकी तरफ़ देखने लगा।

लाला दीनदयाल कुछ देर तो सोचते रहे, अंत में कहने लगे—"लोगों की ज़बानी सुना गया है; कोई पक्की ख़बर नहीं, इसलिये मैं भी कुछ नहीं कह सकता। तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

"मुझे। जेलर साहब की ज़बानी। मैं स्वयं जानता हूँ, मैं निर्दोष हूँ।"

लाला दीनदयाल ने सिर हिलाकर गुनगुनाते हुए कहा—"ठीक कहते हो, मगर आजकल तो सरकार जो चाहे, वही साबित करा सकती है।"

वीरेश्वर ने एक गहरी साँस ली, और अत्यंत उत्सुकता से लालाजी की ओर देख प्रश्न करने का साहस किया। उसने हिचकते हुए पूछा—"नसीबन के बारे में आप क्या ख़याल करते हैं? वह कैसी औरत है?"

लाला दीनदयाल उत्तर देना ही चाहते थे कि उनकी स्त्री तुरंत बोल उठी—"वह बड़े अच्छे घर की औरत है। मुसलमानी है, तो क्या, हिंदुओं से कहीं अच्छी है। उसे तो शीला का बड़ा दुःख है। कई दफ़ा बेचारी आई भी है, रोती रहती थी। वीरेश्वर, तुम बुरा न मानना, मेरा संदेह दूर नहीं हो सकता। यह सारी कार-रवाई, जसा अदालत ने तय किया है, तुम्हारी है, और तुम अपने को कितना ही निर्दोष क्यों न कहो, मुझे विश्वास नहीं हो सकता।"

कला खड़ी हुई सुन रही थी। उसने अपनी मा के सामने कहना उचित न समझा, क्योंकि वह वीरेश्वर के सामने अपनी मा को नाराज़ नहीं देखना चाहती थी; मगर उसके चेहरे से घृणा प्रतीत होती थी। उसने टेढ़ा मुँह बनाकर मा से कहा—"यदि वीरेश्वर भाई ले जाते, तो इस प्रकार दो साल तक कहाँ छिपाकर रखते। पुलिस आसानी से पता लगा सकती थी।"

"पता कहाँ से लगाते। मुझे तो यह मालूम हुआ है कि इन्होंने कहीं कुएँ या खाई में गर्दन काटकर फेंक दिया है। पराई बेटी का इनको क्या दर्द। आजकल के मर्द स्त्रियों की कब परवा करते हैं।" कहते हुए कला की मा रोने लगी, और वीरेश्वर भी अपने आँसू रोकने में असफल रहा।

थोड़ी देर तक सब चुप रहे। एक दूसरे की तरफ़ देखते थे, तो और भी रोना आता था; मगर वीरेश्वर संतुष्ट नहीं हुआ।

उसने कला की मा से पूछ ही लिया कि उन्हें इस बात का कैसे विश्वास हुआ।

कला की मा ने उत्तर दिया—"दुनिया जानती है।"

"आखिर आपसे किसने कहा। आप तो बाहर जाती ही नहीं। या तो लालाजी ने कहा या किसी और ने।"

"लालाजी भला तुम्हारे खिलाफ़ कैसे कह सकते हैं। उन्होंने तो तुम्हारा जूठा खाया है, मैं भी किसी तरह इसका पता लगाने में सफल हुई। हम औरत हैं, तो क्या? दुनिया की खबर रखती हैं। मर्दों की चतुराई औरतों के सामने ताक़ में रक्खी रह जाती है।"

वीरेश्वर इन व्यर्थ बातों पर विश्वास कैसे ला सकता था। उसे तो यही पूछना था कि इस बात का उड़ानेवाला कौन है। उधर कला की मा ने तय ही कर लिया था कि वीरेश्वर ने सारा काम किया। कलंक का टीका अपने ही ऊपर नहीं, बल्कि कुल घराने पर लगाया, और अब अपने सच्चे होने का दावा करता है। ठीक कौन था। दोनो अपने-अपने को समझ रहे थे। वीरेश्वर ने बहुत-सी बातें कहीं, और समझाया भी, परंतु जहाँ अंध-विश्वास हो, वहाँ दलील क्या काम कर सकती है। अंत में उसने पूछा—"नसीबन कहाँ की रहनेवाली है?"

कला की मा चौकन्नी हो गई और बोली—"तुम्हें नसीबन से क्या मतलब?"

"कुछ नहीं, सिर्फ़ जानना चाहता हूँ।"

"सुनो वीरेश्वर! जिस बात से कुछ लाभ न हो, उसके पूछने से क्या मतलब?"

"आपका कहना ठीक है। मैं मानता हूँ। बतलाने में यदि कोई हानि नहीं, तो आप क्यों छिपाती हैं?" वीरेश्वर इतना कहकर, ज़रा सँभलकर बैठ गया, और कला की मा की तरफ़ झुककर उत्तर सुनने के लिये चुप हो रहा।

"मैंने कभी नहीं पूछा। इतना जानती हूँ कि वह पड़ोस में बच्चे खिलाने के लिये नौकर है।"

"उनके गाँव का नाम मालूम है?"

"नहीं।"

"उनका मालिक जीवित है या मर गया?"

"कुछ नहीं कह सकती।"

"क्या इधर-उधर उनका कोई रिश्तेदार भी है?"

"इन बातों के पूछने से मुझे क्या मतलब।"

"कभी कहीं से कोई भूला-भटका मिलने-जुलने भी आता है?"

"आखिर तुम्हारा मतलब क्या है?"

"मतलब बाद में बतलाऊँगा। मुझे तो यही पूछना है कि यह यहाँ कैसे आई, कौन लाया, किस तरह इनके यहाँ नौकर रही?"

कला की मा कुछ देर तक चुप रही और बोली—"मैं इन सब बातों को पूछ तो लेती, परंतु बुआजी की इज्ज़त करती हूँ, और जिससे कोई लाभ न हो, उसके पूछने से क्या मतलब?"

वीरेश्वर बुआजी के नाम पर चौकन्ना हो गया, लेकिन कला ने फ़ौरन् बतला दिया कि माताजी इसी नसीबन को बुआजी कहा करती हैं। हम दोनो बहनें तो नौकरानी कहा करती थीं। वीरेश्वर के मुख पर हँसी झलकने लगी, और कला ने मुसकिराहट देख निगाह नीची कर ली।

कला की मा को बुआजी की बेइज़्ज़ती सुन क्रोध आना साधारण-सी बात थी। वह नाराज़ हुई, और कला को बुरा-भला कहने लगी—"बेचारी बुआजी तो गहक-गहककर तुम्हें बेटी कहकर पुकारें, और तुम नौकरानी कहो। तुम्हारी पढ़ाई क्या हुई, तुम्हें तो रहा-सहा कुछ भी याद न रहा।"

कला की ज़बान भी खुल गई। उसने आगा-पीछा कुछ न देखकर

कहा—"मुसलमानियों से हमें क्या लेना। वैसे तो बुर्क़ा पहने चाहे सारे शहर में आधी रात डोलें, बनती फिरती हैं परदेवाली। सूरत चुड़ैलों की-सी, मिज़ाज परियों के-से।"

"देख कला, चुप हो जा। तू बहुत बक-बक करने लगी है। तुझे इतनी भी लियाक़त नहीं, जितनी एक मुसलमान के बच्चे में, चाहे तू सौ किताबें पढ़ चुकी हो।"

"लियाक़त की तो यह बात है माताजी कि तुम पढ़ी-से-पढ़ी मुसलमानी का बिठला दो, बात कर जाय, तो मैं जानूँ। यह दूसरी बात है कि रंडियों की तरह पान लगाने, छाली कतरने और बकरी की तरह मुँह चलाने लगे। इनका तो यह हाल है कि दबी-ढकी परदे में रहती हैं, कौन जाने इनके गुण-अवगुण। पढ़ना-लिखना क्या है, ज़रा उर्दू का कायदा पढ़ लिया, दो-चार जुमले—आइए, तशरीफ़ लाइए, नोश फ़र्माइए, आपका इस्म मुबारिक—सीख लिए, बस हो गई पढ़ी-लिखी। माताजी, आपने जितना विश्वास नसीबन का कर रक्खा है, मैं अगर होती, तो घर में न आने देती।"

लाला दीनदयाल ने जब लड़ाई बढ़ती हुई देखी, तो दाबना ही उचित समझा। कला से जूठे बर्तनों को उठा ले जाने के लिये कहा, और दाँत कुरेदने के लिये सींक मँगवाई। उधर वीरेश्वर से कहा—"टहलने का समय हो गया है, चलो, थोड़ी दूर घूम आवें।" साथ ही अपनी स्त्री की ओर देख और कुछ इशारा पा वीरेश्वर से शाम को भोजन करने के लिये प्रार्थना की, और दोनो घूमने चल दिए।

अभी वह अपने घर के दरवाज़े से बाहर ही निकले होंगे कि नसीबन छत पर से झाँकने लगी। पड़ोस में वह रहती ही थी। दीवार का ही अंतर था। कला की मा ने देखकर सलाम किया, और घर आने का आग्रह किया। नसीबन अपना बुर्क़ा पहन तुरंत आ

पहुँची। बैठने भी न पाई थी कि उसने सवाल किया—"बहूजी, क्या यह वही लड़का था, जिसे दो साल की सज़ा हुई थी?"

बहूजी ने कहा—"हाँ।"

"तोबा, ऐसे मरदुए को अंदर बहू-बेटियों में बुलाना कहाँ का दस्तूर है? ख़ुदा के फ़ज़ल से अभी कला भी यहीं है। शीला के साथ तो ऐसा किया ही था। न-जाने तुम्हारी कैसे हिम्मत हो गई, जो उससे बातें करने को मुँह खुल गया।"

बहूजी ने "क्या करूँ" कहकर पीढ़ा बिछाया, और बुआजी को बिठाया। कहा—"बुआजी, मेरे क्या बस का है। कला के लालाजी लाए थे। पहले भी उन्हीं की वजह से आना-जाना था। जिस आदमी को ठोकर खाकर भी अक़्ल न आवे, वह हैवान से भी बुरा। मैं क्या उसे बाहर जाकर लाई थी!"

"ख़ैर, ख़ुदा उन्हें अक़्ल दे। आज क्या मामला है, जो तीन-चार तरकारियाँ कतरी हुई रक्खी हैं। किसी का खाना है?"

"कला के लाला ने खाने को भी बुलाया है। औरत को तो सब मानना पड़ता है। न बनाऊँ, तो आफ़त और बनाऊँ, तो तुम्हीं बुरा कहो।"

"अच्छा है बहू। बेटी का दाग़ जो मा को होता है, वह बाप को कब हो सकता है। तुम्हारे जी से कोई शीला को पूछे। रात-दिन रोती हो, सर धुनती हो। मर्द का क्या है। आज से कल कुछ और। उनके जान तो शीला हुई-न हुई एक-सी।" नसीबन कहती-कहती आँखों से आँसू पोंछने लगी, और बड़ी दुःखित हुई, मानो शीला उसी की बेटी थी।

कला ने अपनी मा को आवाज़ देकर आटा गूँधने के लिये पुकारा, और स्वयं चौके से निकल नसीबन के पास आ बैठी। मा को ज़बरदस्ती उठाकर चौके में भेज ही दिया, और नसीबन से पूछने लगी—"आप अच्छी तो हैं?"

"ख़ुदा की मेहरबानी है।"

कला बात करने में बड़ी चतुर थी। हाँ में हाँ भी मिला देती थी, परंतु अपना मतलब भी निकाल लेती थी। उसने पूछा—"बुआजी, तुम्हारा ब्याह कहाँ हुआ था ?"

"बेटी, तुम्हें ब्याह की पड़ी है। हम ग़रीबों का ब्याह कहाँ से हो।"

"तुम अब तक कुँआरी रहीं ?"

"कुँआरी न होती, तो यों ही रहती। एक जगह निकाह ठहरा था, वह मर्द मर गया। मा-बाप भी मर गए। फिर कहाँ से ब्याह होता।"

"घर में चाचा-चाची होंगे। उन्हें तुम्हारा ख़याल ज़रा न आया। तुम तो इतनी होशियार हो कि चाहे जिससे बात मिलाकर ब्याह कर सकती थीं।"

"ख़रचा कौन देता ?"

"मुसलमानों में ख़रचे की क्या ! पाँच पैसे के छुआरों से ब्याह होता है। बुआजी, भला तुम बग़ैर ब्याह के अब तक कैसे अकेली रह सकती थीं ?"

"बेटी, रह रही हूँ, और क्या मर जाती।"

"बुआजी, तुम्हें इनके यहाँ नौकरी करते कितने दिन हुए ?"

"ज़िंदगी गुज़र गई। मियाँ का भला हो, जो मुझे घर से ज़्यादा चाहते हैं। कौन किसकी करता है।"

कला सुनकर चुप हो गई, और मा के पास जाकर उससे कहा—"लाओ, अब मैं सब सामान कर लूँगी, तुम बाहर बैठो। अपनी बुआजी का आदर-सत्कार करो।"

ये ही बातें हो रही थीं कि लालाजी और वीरेश्वर टहलकर लौट आए, और सीधे अंदर चले आए। लालाजी पर ज्यों ही नसीबन की निगाह पड़ी, फ़ौरन् उसने अपना बुर्क़ा ओढ़ लिया, और चल पड़ी। कला की मा पान देती रह गई, परंतु वह कब ठहरनेवाली थी। इधर वीरेश्वर भी उसकी चाल-ढाल देखने लगा। लालाजी

ने वीरेश्वर की तरफ़ इशारा करके कहा—"यही नसीबन है, जो हमारे घर आया-जाया करती है। वीरेश्वर "मुझे मालूम है" कह चुप हो गया, और कुर्सी पर बैठ गया।

बहुत सोच-समझकर वीरेश्वर ने पूछा—"नसीबन की गवाही पुलिस ने क्यों कराई थी। उसने मेरे ख़िलाफ़ ही कहा था। क्या कला की मा ने ऐसा कराया था?"

"नहीं, पुलिस की काररवाई थी।"

कला दौड़कर अपने लालाजी के पास आ खड़ी हुई, और कहने लगी—"मैंने नसीबन से पूछ लिया कि उसकी शादी हुई है या नहीं। उसने जवाब में इनकार कर दिया, और बोली—'अब तक कुँआरी हूँ, और जब से होश सँभाला है, पड़ोस के मियाँ के यहाँ काम करती हूँ।'"

वीरेश्वर ने इस बात को ग़ौर से सुना, और कुछ न कह कला की ओर देखने लगा। कला ने इधर-उधर की बातें छेड़ दीं। समय यों ही गुज़र गया। खाना तैयार हो चुका था। कला ने अपने लाला और वीरेश्वर को खाना खिला दिया। वीरेश्वर खाना खा चलने की इजाज़त माँगने लगा, और कहा—"मैं दो-एक रोज़ में सरदार केसरीसिंहजी से मिलने जाऊँगा। आजकल लाइलपुर में एक मुक़दमा इसी तरह का है, उसकी खोज में हूँ। पत्र-व्यवहार होता रहेगा। एक बात कहे देता हूँ। बहन कला, तुम नसीबन को देखती रहना। यदि वह कहीं बाहर जाय, तो उसका ख़याल रखना।"

लालाजी अंदर गए, और संदूक़ खोल ५० रुपए लाए। बाहर आकर वीरेश्वर को देने लगे। वीरेश्वर ने मना भी किया, लेकिन उसे अंत में स्वीकार करने पड़े। लाला दीनदयाल ने कहा—"आज शीला होती, तो तुम मेरे रिश्तेदार होते, मैं तुम्हें शीला की जगह समझता हूँ।"

नमस्ते कहकर वीरेश्वर वहाँ से चल पड़ा।

बेटी का धन

नसीबन वीरेश्वर के आने के दूसरे दिन बाद सेठ प्रभुदयाल के यहाँ पहुँची, और दरवाज़ से इधर-उधर झाँक सीधी घर में घुस गई। सेठानी-जी बैठी हुई थीं। नसीबन को देखते ही सलाम किया, और आदर-सत्कार कर बोलीं—"आज सूरज कहाँ से निकला ?"

नसीबन ने बुर्क़ा उतारकर अलग रख दिया, और कहने लगी—"सेठजी से काम है। घर पर हैं या कहीं बाहर गए हुए हैं ?"

"वह कहीं भी नहीं जाते। कमरे में बैठे हैं। बुलाऊँ ?"

"हाँ, कुछ हर्ज न हो, तो बुला लो, या अगर हुक्म दें, तो मैं ही उनसे वहाँ मिल लूँ।"

सेठानी अंदर गईं, और उनकी आज्ञा पाकर नसीबन से वहीं जाने के लिये कहा। नसीबन ने पहुँचकर सलाम किया, और इशारा पाकर उन्हीं के पास क़ालीन पर जाकर बैठ गई। सेठजी ने अपनी स्त्री से पान लाने को कहा, और मसनद के सहारे बैठकर पूछने लगे—"आज कैसे तकलीफ़ की ?"

"कुछ नहीं आपको सलाम करना था।"

"कुछ तो बात है ही, जो बेवक़्त यहाँ आई ?"

"बात है भी, और है भी नहीं। कहने से अपनी बात पराई हो जाती है। अगर आप मुझसे यह वादा करें कि किसी से न कहूँगा, तो मैं भी अपनी ज़बान खोलूँ।"

"कहिए, जैसा आप चाहेंगी, वैसा ही होगा। मुझे क्या इनकार है।"

नसीबन ज़रा सँभलकर बैठ गई। गाँठ से तंबाकू खोली, और फाँककर कहने लगी—"वीरेश्वर को तो आप जानते ही हैं।

उसे जेल से आए हुए ज्यादा दिन नहीं हुए कि उसका आना-जाना लाला दीनदयाल के यहाँ शुरू हो गया, और वहाँ खाना भी खाता है। कला (तुम्हारी बहू) उसके सामने निकलती है, बोलती है, हँसती है। शीला का ग़ायब हो जाना इतना आपको दुःखदायी नहीं हुआ होगा, जितना लाला दीनदयाल को, लेकिन अगर, ख़ुदा न करे, ऐसा कला के साथ हो गया, तो सेठजी, आपकी सारी आबरू मिट्टी में मिल जायगी। शहर के लोग यों ही कहेंगे कि सेठजी की बहू भाग गई। वीरेश्वर का क्या बिगड़ेगा, वह जैसे दो साल जेल में रहा, और दो साल रह लेगा।"

सेठ प्रभुदयाल चौकन्ने हो गए, और बड़ी उत्सुकता से पूछने लगे—"अब क्या करना चाहिए ? लाला दीनदयाल से मैं कह तो सकता हूँ कि वह वीरेश्वर को अपने घर न आने दें। मेरे बेटे की बहू जब तक पीहर में रहेगी, उन्हें मेरे कहे अनुसार करना पड़ेगा, परंतु मिली हुई रिश्तेदारी है, मैं बिगाड़ना नहीं चाहता। कोई दूसरी तरकीब निकल आवे, तो अच्छा हो।"

नसीबन अपनी उँगली नाक पर रखकर ऊपर की तरफ़ देखने लगी, और बहुत सोच-समझकर बोली—"आप भागमल का गौना क्यों नहीं कर डालते ? ख़ुदा की मेहरबानी है, इतने बड़े लड़के कहीं अकेले रहते होंगे, और वह भी सेठों के।"

नसीबन सेठजी से हर तरह की बातचीत कर सकती थी, और जिस दिन से लाला दीनदयाल के ख़िलाफ़ गवाही दी थी, उस दिन से कोतवाल साहब ने नसीबन को काफ़ी स्वतंत्रता दे रक्खी थी।

सेठजी की समझ में गौने की बात तो आ गई, परंतु अपनी स्त्री से भी सलाह लेनी थी। जब नसीबन ने उलटा-सीधा बहका दिया, तो वह राज़ी हो गई। नसीबन अपना सिक्का जमाकर घर लौटने लगी, और कहा—"सेठजी, मेरा आना किसी तीसरे आदमी को

न मालूम हो जाय। मैं आपको अपने घरवालों से ज़्यादा समझती हूँ।"

सेठजी हँसे, और एक रुपया अंटी से निकालकर चलते समय नसीबन को दिया। उसने बड़ी नाज़-अदा से उस रुपए को स्वीकार किया। यह उसका सदा का ही ढोंग था। रुपया ले, बुर्क़ा पहन घर लौट आई। रास्ते में लाला दीनदयाल के घर भी फेरा लगा गई।

लाला दीनदयाल कचहरी से लौटकर, कपड़े उतारकर बैठे ही थे कि नाई ने एक पत्र लाकर दिया। वह सेठ प्रभुदयाल के यहाँ से गया था। पत्र पढ़ने से मालूम हुआ कि वह भागमल का गौना अभी करना चाहते हैं। तारीख़ भी लिखी हुई थी, और उसके हिसाब से केवल पाँच ही दिन बाक़ी रह गए थे। पत्र पढ़ने के बाद वह अंदर गए, और अपनी स्त्री को जा सुनाया। सुनने के बाद वह बोली—"अब कोई सायत भी नहीं है, कैसे हो सकता है। गौने का सामान भी नहीं है। गौना करना बेटीवाले का काम है। बेटेवाला कभी ज़िद नहीं करता।"

लाला दीनदयाल बोले—"क्या लिख दूँ ? नाई बैठा हुआ है, वह अभी जायगा।"

"लिख देना, ज़रा धीरज रक्खो। खाना खाकर जायगा या यों ही ? उनका लागू-बाँधू है, बग़ैर खाना खिलाए भेजना ठीक नहीं। इतने में तुम जवाब लिख देना।"

कला की माता खाना बनाने लगी, और उसके पति ने उत्तर में इतना ही लिख दिया कि अभी कोई उचित छेता नहीं हो सकता, इसलिये छ मास बाद गौने की रस्म की जायगी। नाई को खाना खिलाकर और पत्र देकर एक रुपया इनाम दिया, और रुख़सत किया।

लाला दीनदयाल ने खाना तो खा लिया, किंतु सोच में पड़ गए। उन्हें आश्चर्य हुआ कि सेठ प्रभुदयाल ने क्यों आज ही गौने का पत्र

भेजा। कोई बात अवश्य है, परंतु कभी-न-कभी भेजते ही। कल तक कोई बात न थी। शायद वीरेश्वर के आने-जाने की ख़बर लग गई हो। उसके विरुद्ध तो वह पहले ही से थे। इस ख़बर की सूचना देनेवाला वीरेश्वर स्वयं तो हो नहीं सकता। बेचारा कल रात की गाड़ी से ही चला गया है। अपनी ही परेशानी से छुटकारा नहीं, तो दूसरों की क्या बात करे। कला या मैं कह नहीं सकता। कला की मा ने यदि कहा हो, तो नसीबन से कहा हो, और वह कल आई भी थी।

थोड़ी देर तक वह चुप रहे। कला को आवाज़ दी, और धीरे से पूछा—"कल नसीबन कितनी देर बैठी थी ?"

"ज्यों ही आप दरवाज़े से निकले होंगे, नसीबन आ गई थी; और शायद पहले से छत पर से झाँक रही हो।"

"अच्छा बेटी कला, तुम्हें मालूम है, उसने क्या-क्या बातें कही या पूछी थीं ?"

"मुझे अच्छी तरह मालूम है। मैं तरकारी बनाने का बहाना कर चौके की ओट में जा बैठी और मा की बातें सुनती रही। बातें बेहूदी थीं। मैं क्या कहूँ। मा स्वयं बतला देंगी।"

"तुम्हीं क्यों न बतला दो। मा में उतना शऊर होता, तो नसीबन आने ही क्यों पाती। वह तो नसीबन को न-जाने क्या समझती हैं। मेरी निगाह में वह बड़ी बनी हुई औरत है।"

कला ने चुपके-चुपके, दबी ज़बान से, झिझकते हुए, कह दिया—"नसीबन भाई वीरेश्वर के बारे में कह रही थी। उसने कई बार कहा कि तुम उसे घर न आने दो। शीला को तो ले ही गया; ऐसे को क्या लगता है, जो कल को कुछ और कर बैठे। मा ने इसके उत्तर में केवल इतना ही कहा कि मैं क्या करूँ, कला के पिता लाए थे; मैं खुद नहीं चाहती। एक बात लालाजी, और है, जो मैंने उससे

पूछी। मैंने बहुत-से सवाल किए, उनके जवाब में केवल इतनी बात ज़रूर निकलीं, जो उसने अपनी ज़बान से कही कि उसकी शादी आज तक कहीं नहीं हुई।

लाला दीनदयाल ने कहा—"क्या आश्चर्य है, न हुई होगी।"

"वाह पिताजी! भला, दुनिया में कोई भी मुसलमानी बे शादी के रह सकती है। उनके यहाँ तो आज मालिक मरे, कल दूसरे से निकाह हो। दो-दो, चार-चार महीनों के लिये तो निकाह हो जाते हैं। फिर नसीबन-जैसी औरत यह कहे कि मेरा ब्याह नहीं हुआ, बिलकुल ग़लत। हाँ, एक बात और याद आ गई। एक दिन वह शीला से कह रही थी, मा भी मौजूद थीं कि मेरा निकाह हुआ और दो लड़के भी थे, वे छोटी उम्र में मर गए। आप नसीबन की बात पर क्योंकर यक़ीन कर सकते हैं।"

लाला दीनदयाल ने समय बहुत हो जाने पर कला से खाना खाने को कहा, और आप सोच में पड़ गए। कोई बात समझ में न आई थी। जो कुछ थी, तो वह नसीबन के बारे में। कला की मा दूध ठंडा करके लाई, और लाला दीनदयाल को जगाया। नींद आती भी कहाँ से, चुप करवट लिए पड़े थे। अपनी स्त्री के आग्रह पर उठे, और हाथ में गिलास लेकर बैठ गए। उनकी स्त्री ने कहा—"ऐसे परेशान क्यों हो। मैंने पहले ही कहा था कि वीरेश्वर को घर पर बुलाना ठीक नहीं, और फिर बुलाना भी तरह-तरह का होता है। तुमने उसकी दावत की, घर के अंदर ले आए। ऐसे आदमी का बुलाना ठीक न था।"

"हर्ज ही क्या था। वीरेश्वर-जैसा लड़का होना मुश्किल है। तुम अभी तक नहीं समझती हो। क्या जो आदमी जेल काट आवे, वह अच्छा नहीं। ग़रीब बिलकुल निर्दोष है। लाला प्रभुदयाल का गौने के लिये पत्र भेजना और वह भी अचानक, समझ में नहीं आता।"

"कौन बड़ी बात है। कला के ससुर क्या बच्चे हैं? वीरेश्वर के आने-जाने की सुनी होगी। उन्हें अपनी इज़्ज़त का ख़याल है। तुम्हारी तरह नहीं हैं। बहू-बेटी का मर्दों से बातचीत करना कुछ अच्छा थोड़े ही है। पता लगने पर उन्होंने ख़त भेज दिया। मेरे ख़याल से उन्होंने ठीक किया। तुम फ़िक्र क्यों करते हो। हमने अपनी बेटी दे दी। उन्हें अख़्तियार है।"

लाला दीनदयाल दूध पीते और रुक जाते थे। बीच में कुछ कह भी डालते थे—"मुझे केवल यही फ़िक्र है कि उन्हें पता कैसे लगा? यह बात समझ में नहीं आती। तुमने नसीबन से इसका ज़िक्र तो किया ही था। बस, वही ख़बर कर आई।"

"तुम्हारी बातें न गईं। बेचारी नसीबन या तो हमारे घर आती है, या बाज़ार से कुछ सौदा कभी-कभी ले आती है। वह वहाँ क्यों जाती। अपना दाम खोटा हो, तो परखनेवाले को क्यों दोष दिया जाय। न तुम वीरेश्वर को बुलाते, न ख़त आता। बुआजी ऐसा कहने कभी नहीं गई होंगी, और वह आईं भी, तो ज़रा-सी देर के लिये।"

कला की मा इसी प्रकार नसीबन के पक्ष में कहती रही। जब लाला दीनदयाल दूध पी चुके, तो उन्होंने गिलास पकड़ा दिया और कहा—"अच्छा, जाओ सोओ, कल देखा जायगा। मौक़ा मिला, तो मैं भी सेठ प्रभुदयाल से मिल लूँगा। दस-पाँच रुपए मिलने के देने पड़ेंगे, बात साफ़ हो जायगी।"

सबेरे के छ बजे होंगे। लाला दीनदयाल मुँह-हाथ धोकर अपने दफ़्तर के काग़ज़ उलट-पलट रहे थे कि सेठ प्रभुदयाल का नाई आया और उसने एक पत्र दिया। पत्र में गौने का छेता तय करके लिख दिया था। उसमें विस्तार-पूर्वक यह भी लिख दिया था कि यद्यपि सापा नहीं है, परंतु कोई हर्ज नहीं। पंडितों से पूछ लिया गया है। आप भी आर्य हैं, आपको तो छेता या शुभ घड़ी माननी ही न

चाहिए। इस खत में कोई तबदीली न की जायगी। भागमल आज से छठे दिन रुखसत कराने आएगा। आप उसका प्रबंध कर लें।

लाला दीनदयाल खत लेकर अंदर गए, और अपनी स्त्री को सुनाकर सम्मति ली। वह भी राज़ी हो गई। मंज़ूरी का खत जवाब में तुरंत ही दे दिया। कला को भी मालूम हो गया। वह कुछ हताश-सी होने लगी, किंतु उसके पिता ने समझा दिया कि बेटी, तेरी प्रारब्ध। यह सब हमारा दोष है। शहर की बात तो है ही, दो-चार दिन पीछे बुला लेंगे। चिंता करने की बात नहीं।

समय व्यतीत होने में देर नहीं लगती। जिस घर में काम-काज होने को होता है, दिन चुटकियों में गुज़र जाते हैं। दिन-भर धरा-उठाई, सीना-पिरोना और कपड़ों की तैयारी में लग जाता था। रात हारे-थके होने के कारण एक ही नींद में समाप्त हो जाती थी। छठा दिन आ गया। भागमल अपने चार रिश्तेदारों सहित आ पहुँचे। साथ में एक नाई और एक कहार था। तीन रोज़ उनकी ख़ूब खातिर हुई। चौथे दिन कला अपनी ससुराल पहुँच गई। दान-दहेज़ जो कुछ उनसे बन पड़ा, दिया। दुनिया की सारी रीति की, सोने-चाँदी का गहना भी दिया। चलते समय भागमल से कला की रुखसत के बारे में कह दिया, और एक पत्र उनके पिता को लिख दिया। उसमें अपने अपराधों की क्षमा चाही, और प्रार्थना की कि आप आठ रोज़ बाद रुखसत कर दीजिएगा।

कला अपनी ससुराल पहुँच गई। ब्याह-गौने में बहू की बड़ी खातिर होती है। काम-काज कुछ नहीं कराया जाता। जिन घरों में नौकर नहीं होते, वे भी दो-चार दिन के लिये, समय आने पर, लगा लेते हैं। बहू नई होती है, उसे निश्चय हो जाता है कि मेरी ससुरालवाले बड़े अमीर हैं, जिनके इतने नौकर हैं। रोटी करने को ब्राह्मणी, चौका-बरतन के लिये कहारी, बाहर के काम के लिये नौकर, और जो कुछ

काम बाक़ी रहे, वह पिसनहारी के ज़िम्मे। कला इस मामले से अत्यंत प्रसन्न रही। उसने अपने मन में सोचा, यहाँ खूब पढ़ने को मिलेगा। अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ूँगी। दोपहर को अपनी सारी पर बेल टाँकूँगी। रूमाल, पल्ले, झालर बनाती रहूँगी। पुस्तकें ससुरजी मँगा देंगे। मालदार हैं। उनके एक ही लड़का है। जो कुछ भी है, वह उसी के लिये। इसी विचार में वह मग्न रहती थी। दो-एक पुस्तकें जो साथ ले गई थी, पढ़ डालीं। आठ दिन भी हो गए। बस, एक-एक पल गिनने लगी। कब पिताजी आवें और मुझे ले जायँ। लाला दीनदयाल के कोई लड़का न था, स्वयं ही पहुँचे। सेठजी से बातें होने लगीं। बड़ा आदर-सत्कार किया। यों तो आर्य-समाजी थे, लेकिन लोक-लाज के कारण और अपनी स्त्री की वजह से उन्होंने बेटी के घर खाना स्वीकार नहीं किया। सेठजी जानते थे कि वह कभी न खायँगे, इसलिये बार-बार खाने के लिये आग्रह करते थे। लाला दीनदयाल दोनो वक्त घर से ही खाना खा जाते थे। सेठजी से आज्ञा लेकर कचहरी चले जाते थे। छुट्टियों का प्रबंध आठ दिन के अंदर होना असंभव था। उन्हें ऐसा ही करना पड़ा। तीसरे दिन कला की रुख़सत की ठहरी। जो कुछ नेग, सास-ससुर की भेंट थी, जाते ही चुका दी थी। रुख़सत का समय आने पर सेठजी बोले—"लाला दीनदयालजी, आपको दुःख अवश्य होगा, लेकिन मैं साफ़ कहे देता हूँ कि आपकी लड़की अब पीहर न जायगी। हमें आपके घर का भरोसा नहीं। हमारी बहू है, अब हम इसे नहीं भेजेंगे।"

लाला दीनदयाल पहले हँसी समझे, लेकिन कई बार के मना करने पर उन्हें विश्वास हो गया कि वहाँ से रुख़सत कराना कठिन है। नम्रता-पूर्वक कहने लगे—"सेठजी, बहू आपकी है, आपके ही घर रहना है। हमारा काम तो पालने, बड़ा करने और विवाह करने का था, परंतु जब तक हम जीवित हैं, बुलाना-चलाना रक्खेंगे। हमारे कोई

लड़का नहीं; यही एक लड़की है। बेटी आती-जाती ही अच्छी लगती है। दूसरे, अभी उसकी तबियत भी न लगेगी, धीरे-धीरे सब हो जायगा। मा-बाप जन्म-भर तो अपनी बेटी रख नहीं सकते। अच्छे-अच्छे राजा-महाराजा नहीं रख सकते। गौने की रसम हो गई। आप रुख़सत कर दें, फिर चाहे बुला लेना। इस समय बिदा न करना हमारे ऊपर कलंक का टीका है और बदनामी भी।"

"आपका कहना ठीक है, लेकिन मैं क्या कर सकता हूँ। मैं यदि कह भी दूँ, तो उसकी सास मंज़ूर नहीं करेगी। वह भी अकेली है। जब तक हम ज़िंदा हैं, अपने सामने बहू को घर की ऊँच-नीच समझा दें। रहा बेटे का सवाल, सो भागमल पहले आपका लड़का, पीछे मेरा। आप उसे बुलाइए, दिन में सौ बार बुलाएँगे, उसे जाना पड़ेगा। इतना अफ़सोस करना ठीक नहीं। रहा मिलने-जुलने का सवाल, फिर कभी देखा जायगा। अब रुख़सत नहीं होगी।"

लाला दीनदयाल समझ गए कि कला की रुख़सत नहीं हो सकती। उनकी आँखों से आँसू निकलने लगे। जिस बेटी पर उन्हें इतना अधिकार था, वह आज, गौने के बाद ही, ऐसी पराधीन हो जाय कि उसका बाप उसे अपने घर न ले जा सके। ऐसे विचार उन्हें बार-बार रोने के लिये मजबूर करते थे। मर्द थे, ख़ून का घूँट पीते रहे, और अंत में कहा—"मैं ज़रा कला से तो मिल लूँ। उसे ख़बर कर दीजिए।"

सेठजी ने नौकरानी बुलाकर कला को दुबारी में बुला भेजा। लाला दीनदयाल वहाँ पहुँचे। कला ने देखते ही हँसकर कहा—"लालाजी, इक्का आ गया? मैंने कपड़े भी बाँध लिए।"

लाला दीनदयाल सिसकी लेकर रोने लगे—"बेटी, तुझे नहीं भेज रहे हैं। परमात्मा को जाने क्या करना है। तू आराम से रहना। शहर की बात है, मैं मिलता रहूँगा।"

कला फूट-फूटकर रोने लगी। उसने आग्रह भी किया, लेकिन लाला दीनदयाल बेबस थे। बेटी का धन विचित्र है। बड़ी मुश्किल से उसे रोता छोड़ बाहर आए, और सेठजी से नमस्ते कर घर वापस आए। अपनी स्त्री को संक्षेप में हाल सुना और सारी बातें कह बग़ैर खाना खाए कचहरी चले गए।

बुड्ढों का पाखंड

कला रोती-पीटती सर मारकर अपनी ससुराल में रह गई। एक-एक दिन पहाड़ की तरह काटे कटता था। काम-काज करने को कुछ था ही नहीं। पुस्तकें जितनी लाई थी, सब पढ़ चुकी थी। दिन-भर कोठरी में बैठी रहती और वहीं दोपहर में सीना ले बैठती थी। बाहर की कोई स्त्री या कोई नाइन-ब्राह्मणी मिलने आती, तो उसके पैर छूकर चुप बैठी रहती थी। सब लोग कला को अनबोला कहने लगे थे। सास की आज्ञा पर उठना, बैठना, खाना, नहाना, धोना इत्यादि निर्भर थे। भागमल सेठों के लड़कों की तरह चिकन का कुर्ता पहने, सर पर पल्लू, पैरों में कामदार जूते, जो विवाह के समय थे, और हाथ में रूमाल की जगह अँगोछा रखते थे। घर-आँगन आप इसी तरह फिरते थे। अधिकतर समय घर के अंदर अपनी मा से बातें करने में व्यतीत करते थे। कभी-कभी तो उनकी मा को यह भी कहना आवश्यक हो जाता था कि बेटा भागमल, बाहर टहल आओ, बहू सबेरे से अंदर बैठी है, उसे नहाने-धोने दो। भागमल का यदि कोई काम था, तो तेल लगाने और बालों के सँवारने का। घर आने का कोई बहाना न मिले, तो आप सीधे चले आएँ। तेल डालकर घंटों बाल सँवारें, और फिर बंदर की तरह मुँह बनाकर शीशा देखें। उजाला निकलने से अँधेरा होने तक यही काम रहता था। उसके बाप से कभी उसकी मा शिकायत भी करती, तो वह कह देते थे, बच्चा है। अभी खेलने-खाने की उम्र है। बात टल जाती थी।

कला को इस क़ैद की दशा में रहते हुए एक मास से अधिक हो

गया। उसे पहले ही से मालूम था कि ब्याह और गौने में हर लड़की को इसी तरह का जेल काटना पड़ता है। परंतु ख़ुशी थी, तो यही कि दो-चार दिन की बात है, किंतु रुख़सत न होने के कारण कला के जेल का समय न-जाने कितना बढ़ गया। जब कभी अकेली होती थी, चुपके-चुपके रो लेती थी। कभी सिसकने की आवाज़ सास के कान में पहुँच जाती, तो झल्लाकर कला को ख़ूब डाँटती। लाला प्रभुदयाल को मालूम हो जाता, तो वह अपनी स्त्री को डाँटते और कहते—"बेचारी के साथ ऐसा बर्ताव करना ठीक नहीं। यहाँ उसके क्या मा-बाप हैं, जो फ़रियाद सुनेंगे। अगर रोती है, तो क्या बुरा करती है, बेटी को अपने माता-पिता की याद आती ही है।"

एक दिन लाला प्रभुदयाल शाम के वक़्त बाज़ार से सीधे अंदर मकान में आए। हाथ में एक कच्चा आम और दो पोदीने की डालें थीं। अपनी स्त्री से बोले—"बहू कहाँ है ?"

उन्होंने इशारा करके कहा—"कोठरी में है, और होती कहाँ।"

सेठजी बहू का नाम ज़ोर से पुकारकर बोले—"बेटी, ज़रा आज हमारे लिये चटनी बनाना। मैं आम और पोदीना ले आया हूँ। पढ़ैली पर रक्खे देता हूँ। मिर्च ज़रा कम डालना।"

बहू ने सुन लिया। सेठजी के चले जाने पर वह उठी, सिल-बट्टा अच्छी तरह धो उसने ख़ूब बारीक चटनी पीसी, और कूँडी में रखकर मिसरानी के पास चौके में रख दी। सेठजी खाना खाने के लिये बैठे, थाल परसा गया। खाते समय बोले—"क्या बहू ने चटनी नहीं पीसी ?"

मिसरानी चौके से बोल उठी—"सेठजी, ग़लती हुई। मैं चटनी रखना भूल गई।" यह कह तुरंत पत्ते पर चटनी रख उनकी थाली में रख दी।

सेठजी ने खाना खाकर कहा—"आज की चटनी बड़ी उम्दा बनी। बग़ैर चटनी के खाने में स्वाद नहीं आता। तरकारी-भाजी से आज

की चटनी अच्छी रही।" खाने के बाद कुल्ला करते समय बोले—"बहू, तू मुझे रोज़ चटनी पीस दिया कर, सामान सब मैं ला दिया करूँगा।"

सेठजी ने मुँह बाहर की तरफ़ फेरा, और मिसरानी ने बड़-बड़ाना शुरू किया—"आज चटनी क्या बनी, सेठजी ने तो साग-भाजी को भी बुरा बतला दिया। अच्छा है, बहू आई, तो खाना तो मिलने लगा।"

जब सास-बहू खाने बैठीं, मिसरानी ने चटनी सास को भी दी, और कूँडी उठाकर बहू के सामने रख दी। कला बेचारी चुप। मिस-रानियों का क़ायदा है कि अपनी प्रशंसा सदा चाहती हैं। यदि कोई उनके ख़िलाफ़ कहे भी न, और दूसरे की तारीफ़ कर दे, तो उनके बदन में आग लग जाती है। बहू ने न कुछ कहा, न सुना, जब तक खाना खाती रही, उसी की बुराई सास से करती रही। बहू को केवल इतनी ही तसल्ली थी कि ससुर ने प्रशंसा की थी। ख़ामोश बैठी हुई खाती रही। ससुराल में बहू के लिये सौ सासें और हज़ार नंदें हो जाती हैं। जिसके जी में आवे, वही टहोका मारती चली जाती है। अगर बहू कुछ कहे, तो ज़बान की हलकी कहलाने लगे। कला ने मिसरानी की बातें सुनीं अवश्य, परंतु जी में यही सोचने लगी कि किसी तरह बदला लूँ।

सेठजी को जब चटनी खाते-खाते कई दिन हो गए, तब एक दिन खाते समय बोले—"मिसरानी, आज मसाला मोटा पिसा है, साग के रसे में तैरता है।"

मिसरानी ने उत्तर दिया—"रोज़ाना का-सा है।"

सेठजी थोड़ी देर ख़ामोश रहने के बाद बोले—"मिसरानीजी, अगर तुम बुरा न मानो, तो बहू मसाला पीस दिया करे। तुम्हें सहारा मिल जायगा, और हमें साग-भाजी ज़ायक़ेदार मिल जाया करेगी।"

"आप बहू से रोटी भी करा लिया करें। मुझे बुरा क्यों लगेगा।"

"नहीं, तुम बुरा मान गईं। देखा, तुम दो घर की रोटी करती हो। जल्दी-जल्दी में आती हो। बहू मसाला पीसकर रख लिया करेगी। बेटी, कल से तू ही मसाला पीसा करना। चटनी पहले पीस ली, और उसी सिल पर मसाला पीस लिया। तुझे काम तो बढ़ गया, लेकिन हमें पेट-भर खाने को मिल जाया करेगा।"

स्त्रियों का जलापा मशहूर है। मिसरानीजी जलकर ख़ाक हो गईं। कभी लकड़ियों को बाहर निकालतीं, कभी अंदर करतीं, कभी चिमटा बजाने लगतीं, कभी परात पटकतीं, इसी तरह उस रात को रोटी की। सास मिसरानीजी की हाँ में हाँ मिला रही थी, बहू चुप सुन रही थी। यही ढंग कई दिन तक रहा। मिसरानीजी ने साग बनाने में अपनी जान तो चतुराई से काम लिया, लेकिन पड़ा उल्टा। साग बनातीं, किंतु कभी नमक ज़्यादा, कभी कम, कभी मिर्च आधे-ऊधे की। अगर सेठजी पूछें, तो यही उत्तर मिले कि "तुम्हारी बहू ने चटनी के बाद मसाला पीसा था, नमक अधिक हो गया। मैंने अंदाज़ से डाला था। आज नई रोटी बनाने थोड़े ही आई हूँ। तुम क्या भूल गए? जब से बहूरानी मसाला पीसने लगी हैं, तरकारी बिगड़ जाती है।"

सेठजी मुस्किराए। "ख़ैर, मिसरानीजी, तुमने तो बहू को मसाला पीसना भी नहीं सिखाया। तुम क्या सदा जीवित रहोगी? बहू को कुछ आ जाय, तो अच्छा है।"

मिसरानीजी के दम में दम आया। बोलीं—"हाँ, सेठजी, आप ठीक कहते हैं। खाना बनाना मामूली काम नहीं, बड़े दिन लगते हैं। तुम्हारे ही पड़ोस में छोटे लाला का घर है, बहू चार बेटे-बेटियों की मा होने को आई, रोटी बनाना अब तक नहीं आता। बीच में रोटी अब तक कचौड़ियों की तरह मोटी और कच्ची रह जाती है। भागमल की बहू को आए कै दिन हुए, कल ठीक पंद्रह दिन होंगे। उसे चटनी भी पीसना आ जाय, मसाला भी पीस ले, साग भी बना ले,

रोटी भी कर ले । धीरे-धीरे सब करने लगेगी । मा-बाप के घर तो किताबें पढ़ीं, मदरसे गई, उन किताबों को क्या गृहस्थी में आग दे । आजकल की बहू-बेटियों से काम-काज के नाम सींक तक न टूटे, बातें करवा लो सारे मुल्क की ।"

कला बैठी हुई सुन रही थी । उसके मन में तो यही आती थी कि अभी मिसरानी को ठीक कर दे । मा-बाप की बुराई वह कैसे सुन सकती थी ? यदि उसकी सास कहती, तो दूसरी बात थी । एक नौकरानी, बेपढ़ी, जिसका काम रोटी करने का हो, ज़बान निकाले । खून का घूँट पीकर रह गई । बड़बड़ाने की कला की आदत नहीं थी । उसने ठान लिया कि अगर यही हाल रहा, तो एक दिन पहले मिसरानी से ही ठनेगी ।

सेठजी खाना खा चलते वक़्त कह गए—"कल से बहू ही साग-भाजी बनाया करे । देखें, मिसरानी का खोट है, या बहू का । रोटी मिसरानी किया करेगी ।"

कला सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई, और अगले दिन से साग, दाल, तरकारी बनाने लगी । सेठजी खाना खाते समय बड़ी प्रशंसा किया करते थे, और मिसरानीजी सुन-सुनकर बड़बड़ाती जाती थीं । उनका बस अब केवल रोटियों पर रह गया था । क्रोध में उनको अधकच्ची सेकना, जला देना, मोटी करना मामूली बात थी । दो-चार दिन ऐसा होता रहा, आख़िर सेठजी ने मिसरानी से कहा—"रोटियाँ अच्छी बनाया करो ।"

"मुझे तो ऐसी ही बनानी आती हैं । आपकी बहू अच्छी जानती है, कर दिया करेगी । मेरा हिसाब कर दीजिए, मैं कल से न आया करूँगी ।" मिसरानी ने इन शब्दों को बड़े ज़ोर में कहा । वह जानती थी कि सेठजी मुझे कभी नहीं निकालेंगे । बहू से रोटी पहले तो करावेंगे ही नहीं, अगर कराई भी, तो उसके बस का नहीं । दोनो वक़्त रोटियाँ करना मामूली बात नहीं ।

सेठजी ने कहा—"मिसरानीजी, ऐसा क्यों करती हो। रोटी मुझे ही तो अच्छी नहीं लगतीं, और सारा कुटुंब तो तुमसे ख़ुश है। मेरे लिये रोटी बहू कर दिया करेगी। देख बहू, तू मुझे चार फुलके कर देना। बाक़ी आटा ज्यों-का-त्यों छोड़ देना।"

ससुरजी का हुक्म। कला दोनो वक़्त उनके लिये चौड़े-चौड़े फुलके बनाती, और गर्म-गर्म खिलाती। मिसरानी और सास दोनो बातें करती रहती थीं। मज़मून वही बहुओं के ख़िलाफ़।

पहले दिन जब सेठजी ने बहू के हाथ का बनाया हुआ खाना खाया, तो वह बड़े प्रसन्न हुए। सात फुलके खाए। खाते में कहते जाते थे कि कितना और खाऊँगा। कई दफ़ा साग भी माँगा, दाल परसवाई, रोटियाँ भी माँगीं, बीच-बीच में कहते थे—"वाह, क्या खाना बना है! बस बहू, हमने तो कई वर्ष बाद आज पेट भरकर रोटी खाई है। ईश्वर ने बहुत दिनों में यह दिन दिखलाया है कि ससुर रोटी खाय, और बहू बनावे। परमात्मा, जब तक हम ज़िंदा हैं, तू ऐसे ही रोटी खिलाती रहे।"

कला पढ़ी-लिखी होने के कारण अपने सास-ससुर का आदर-सत्कार बहुत करती थी। ससुर को खिलाने के बाद वह अपनी सास से भी खाने के लिये आग्रह करती। अगर वह खातीं, तो बड़े प्रेम से खिलाती, नहीं तो उनके लिये नरम-नरम फुलके चुपड़कर दाब देती। बाक़ी आटा मिसरानी के लिये छोड़ खड़ी हो जाती। मिसरानी बहू की वहस से बड़े-बड़े बारीक फुलके बनाने का यत्न करतीं, लेकिन बेचारी के किए कुछ न बनता। ऐसा होते हुए तीन ही दिन हुए होंगे कि मिसरानी रूठ गईं। सास को कुछ भी मालूम न था, लेकिन कला ने धीरे से कान में जाकर कह दिया कि मिसरानी की दाल अब नहीं गलती।

सास ने बहू की तरफ़ देखकर कहा—"कैसी दाल?"

बहू बोली—"जब तक यह रोटी करती थीं, आखिर में कुछ साग-भाजी और रोटी या तो माँगकर या बग़ैर कहे पल्ले में बाँध ले जाती थीं, या घी चुराकर, आखिरी लोई में डालकर, एक मोटी रोटी करके ले जाती थीं, और कह दिया, रात को रास्ते में कुत्ते मिलते हैं, उन्हें टुकड़े फेंकती जाती और घर पहुँच जाती हूँ। किसी-न-किसी बहाने से ले जाती थीं। अब मेरे रोटी बनाने से कच्ची रसोई जूठी हो जाती है। बेचारी ले जाकर करें भी क्या?"

सास की समझ में बात आ गई। कला की मंशा यह थी कि मिसरानी की देख-भाल की जाय। मामला पलट गया, अगले दिन से सेठ और सेठानी ने मिसरानी को रोटी करने के लिये मना कर दिया, और दोनो वक्त की रोटी का भार कला पर पड़ा, जिसे वह ख़ुशी से करती थी।

सेठ प्रभुदयाल एक दिन खाना खाते समय बड़े दुःखित हुए। अपने मुँह से कहना कुछ नहीं चाहते थे, परंतु बग़ैर कहे, उन्होंने सोचा, काम भी नहीं चलेगा। "क्या करूँ, बहू को दोनो वक्त की रोटी करनी पड़ती है। सबेरे से शाम तक काम में लगी रहती है। बेचारी को ससुराल में आए महीना-भर भी नहीं हुआ, गृहस्थी का सारा काम उठा लिया। हमारे भाग अच्छे थे, जो बहू ऐसी मिली। मिसरानी से मैंने कई बार बुलाकर पूछा, समझाया, हाथ तक जोड़े कि साल-दो साल और रोटी करें। उसका मिज़ाज ठिकाने नहीं था। रोटी भी अच्छी नहीं करती। हमारी आदत बहू ने बिगाड़ दी। पहले दिन रोटी अच्छी न करती, तो हम तो मिसरानी के हाथ की ही खाते रहते। दूसरी लगा लें, लेकिन खाना जैसा स्वादिष्ठ बहू बनाती है, वैसा इसकी सास ने आज तक भी नहीं बनाकर खिलाया।"

सेठजी की धर्मपत्नी सुन रही थीं। जब उन्होंने देखा कि सेठजी कहे ही चले जाते हैं, और खामोश नहीं रहते, तो बोलीं—"सीधे-

साद़े खाना खा लो। बहू के सामने बातें करना ठीक नहीं।"

"क्या हर्ज है ? उसकी झूठी तारीफ़ नहीं कर रहा हूँ। बताओ, तुमने कभी ऐसा भोजन बनाया था ?"

"मैं क्या जानूँ, आज ब्याह पर तुमने मिसरानी लगा ली। मेरी उम्र अब तक चूल्हा फूँकते गुज़री, एक आँख से अंधी भी हो गई। कभी इतना भी नहीं हुआ, हकीम-वैद्य को दिखला दो। मैं तुम्हारी दबी नहीं हूँ। पेट में खाया है, उतना घर का धंधा किया है।"

"बस, तुम तो बुरा मान गईं। ज़रा बोलो, तो तुम्हें चिढ़ हो जाय। बहू की बात करने पर तुम नाक-भौं चढ़ा लेती हो। जैसा मोती होगा, वैसी जगह पिरोया जायगा। तुम चूल्हा फूँकने लायक़ थीं, तुमने चूल्हा फूँका।"

"अभी बहू को पलँग बिछा दिया है। अच्छा, सिड़सिड़ हो चुकी। रोटी और लोगे या खा चुके ? जल्दी निबटो, देर हो रही है। मुझे काम से निबटना है।"

सेठजी नीचा मुँह करके खाना खाने लगे। जैसे एक कौर मुँह में दिया, ज़रा-सी किसकिसाहट मालूम हुई। ग्रास वहीं उगलकर ज़मीन पर फेंक दिया, और बोले—"आज बर्तन किसने माँजे हैं ?"

"माँजती कौन, वही तुम्हारे घर में एक बंदोर है, वही माँजती है।"

"कौन, बहू ?"

"भला बहू और बंदोर !"

"फिर कौन ?"

"कौन को क्या लगी बाँधी है, कोई कहारी लगा रक्खी है, मैं ही माँजू या न माँजूँ। हाथों की बिवाई तक गल गई। दोनों वक़्त बर्तन माँजूँ, चौका दूँ, झाड़ू लगाऊँ, रोटियों पर टहलनी मिल गई है, बहू के जी में आ गया, तो मेरे हाथ से झाड़ू लेकर सकेलने लगी, नहीं तो उसकी जान चाहे चौका जूठा पड़ा रहे, कुत्ते बर्तन चाटें, अपना

क़सीदा लेकर बैठ जाती है। किताब पढ़ने से ही छुटकारा नहीं मिलता।"

"बड़ी मुसीबत है! या तो बात कहो नहीं, और कहो भी, तो तुम्हारी रामकहानी सुननी पड़े। पूछा इतना था कि बर्तन किसने माँजे, लगों अपने राग गाने। सीधी-सी बात थी, कह देतीं कि मैंने माँजे। मैं तो पहले ही समझ गया था कि जिस चीज़ में तुम्हारा हाथ लग जायगा, बस गत ही बन जायगी।"

"तुम बचते रहना, मैं रामचंद्रजी हूँ। जैसे उनके पैर से सिला उड़ गई थी, कहीं तुम्हारे हाथ लग जाने से तुम न उड़ जाना। क्या गत बन गई। अच्छी-ख़ासी थाली माँज-धोकर लाई हूँ, अँगोछे से पोंछी है, अभी तो अँगोछा मेरे पास ही रक्खा है, उसमें सौ ऐब। अपनी बहू से मँजवा लिया करो। वह चाहे जूठे थाल में ही खिला दे, तब भी साफ़ होगा।"

"जूठे थाल में खिलाएगी अपनी सास को। तुम्हीं उससे तिनका तोड़ती रहती हो। मुझे तो बेचारी ख़ूब अच्छी तरह खाना खिलाती है।"

"ऐसा ही सिखाना। साफ़-साफ़ यों क्यों नहीं कह देते हो कि दोनो वक़्त सास की चुटिया पकड़कर सबके नाम की जूतियाँ लगाया करे। इसमें भी उसे तकलीफ़ होगी, एक दिन ओखली में सर रखकर मूसल से कुचल दे। पर ऐसा भी क्यों करे, ससुर कहने में है ही, दो पैसे का कुचला ला दे; रोटी करती है, रात को मिलाकर खिला दे। सोती-की-सोती रह जाऊँगी। ख़र्च भी ज़्यादा नहीं है। मालूम तो उसी रोज़ पड़ेगी, जिस दिन मैं इस घर में न रहूँगी। बहू गिन-गिनकर मारा करेगी। लाला, कुंजी क़ाबू में कर रोटियों से मोहताज कर देगी। बेटा जब तक ब्याह न हो, मा-बाप का। ब्याह होते ही बहू का। बहू भी समझ लेती है कि सास-ससुर को खिलाने से क्या

फ़ायदा ? आज जो सेठ बने हुए हो, मेरी ही वजह से। एक-एक चीज़ आँखों में रखती हूँ। पढ़ी-लिखी बहू का क्या है, उधर कुत्ता चौके से रोटी ले गया, इधर वह अपनी किताब पढ़ रही है।"

"भागमल की मा, बुरा मान गईं। मैंने एक तरकीब बतलाई, तुमने कई बतला दीं। बहू करेगी, तभी उसको होश होगा। ज़हर खाकर सो जाओगी ख़ुद, नाम बहू का होगा। ज़रा-सी बात थाली की थी, जिसका पहाड़ कर लिया, रोटी खानी दूभर कर दी। अब ख़ुश रहोगी, जब मैं भूखा उठ जाऊँगा।"

"बहू रोटी करे, और तुम भूखे उठ जाओ, कैसे हो सकता है ? तुम्हीं ने बात छेड़ी थी, उसका जवाब मैंने दे दिया। न ग़ में ईंट मारते, न छींटे खाते।"

"राम-राम, खाने के समय ऐसी बात, तुम तो बड़ी गंदी हो। अच्छा बहू, कहने में मुझे सकुचना पड़ता है, पर क्या करूँ। न कहूँगा, तो रोज़ की चकचक कौन सुनेगा ? तू मेरे लिये रोज़ एक थाल, एक गिलास और एक कटोरी माँजकर अपने पास रख लिया कर। जब मैं खाने बैठूँ, उन्हीं मे परस दिया। आज थाल में मिट्टी लगी हुई थी, मुँह में खाने के साथ चली गई। दो-एक दफ़ा पहले भी हो चुका था। मैंने समझा, बहू ने माँजे होंगे, चुप लगा गया, आज कहना ही पड़ा। यह मैं जानता था कि बहू इतने गंदे बर्तन नहीं माँजेगी। अच्छा बेटी, अगर कल से खाना खिलाना है, तो तू ही बर्तन माँज लेना, बस मेरे अकेले के लिये।"

सेठजी कहने भी न पाए थे कि भागमल आ गया। उसे देखकर चुप हो गए, और झटपट उठ कुल्ला कर बाहर चले गए। भागमल ने जल्दी खाना खा और बाल सँवार कुछ पैसे मा से लिए और बाज़ार घूमने चला गया। जितनी देर तक भागमल खाना खाता रहा, उसकी मा कुछ-न-कुछ उसकी बहू के ख़िलाफ़ कानाफूसी करती

रही। उसके लाला की भी बात खाते समय की सुनाई। भागमल हाँ-हूँ, करती जाता और बड़े-बड़े कौर खाता जाता था। आखिर में मा ने ज़ोर की आवाज़ में कहा—"बेटा भागमल, मैं क्या करूँ?"

भागमल ने उत्तर दिया—"टाँग दबवाकर ख़ूब टहल करवाया करो।"

वह सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई और सोचने लगीं कि कौन-सी ऐसी तरकीब है, जिससे बहू मेरी टहल में लगी रहे, चाहे ससुर का काम करे या न करे। वह तो बड़े चतुर हैं, अपना काम निकाल ही लेंगे। बैठे-बैठे कोई बात समझ में न आई। वहाँ से उठकर कोठरी में एक चारपाई पर जाकर लेट गईं।

कला ने सारा प्रश्न सुना ही नहीं, अपनी आँखों से थोड़ा-बहुत देखा भी था। रोटी करती जाती और बातें भी सुन लेती थी। उसे बड़ा आश्चर्य इस बात पर हुआ कि सास-ससुर इस प्रकार बातें करते थे। मैं तो सुनती थी कि सास-ससुर बहू के सामने बहुत कम बोलते हैं, लेकिन यहाँ उलटी रीति। दूसरी बात उसकी समझ में न आई, वह यह कि सास-ससुर बातें कर रहे थे या लड़ रहे थे या हँस रहे थे। यदि बातें करने का ढंग ऐसा होता है, तो धिक्कार है। अगर लड़ते हैं, तो और भी बुरा, और हँसते हैं, तो उससे भी बुरा! बहू के सामने ऐसी हँसी किस काम की। तीसरी बात विचित्र थी, मिसरानी केवल विवाह पर ही लगाई गई थीं, और आज वह बात खुल गई। मैं समझती थी, मिसरानी मुद्दतों से यहीं रोटी करती होंगी। पिताजी ठीक कहा करते थे कि सेठ प्रभुदयाल बड़े कंजूस हैं। मिसरानी को छुड़ा दिया, और मुझसे अब बर्तन माँजने को भी कह दी। ऐसा क्या संभव है कि मैं एक थाल और गिलास ही माँज लूँ, फिर तो सभी माँजने पड़ेंगे। चौका सँभाल, रोटी ढक

खाट की पाँयत खड़ी होकर कहने लगी—"अम्माजी, खाना खा लो।"

"नहीं बहू, मुझे भूख नहीं है।"

"थोड़ा-बहुत तो खा ही लो। बग़ैर खाए सोना ठीक नहीं।"

"इस वक़्त मैं नहीं खाऊँगी।" कहकर कराहने लगीं, और करवट ले ली।

"कैसी तबियत है?"

"अच्छी हूँ, जी मिचलाता-सा है, सिर में दर्द है।"

कला पाँयत से सिरहाने की तरफ़ जा खड़ी हुई, और सिर आहिस्ता-आहिस्ता दबाने लगी। सास ने दो-तीन दफ़ा हाथ का झटका भी मारा और कुनकुन करके कहा, क्यों दाबती है? मगर कला मसलती ही रही। बीच-बीच में पूछ लेती थी कि अब कम है या ज़्यादा। खाने के लिये उसने कहा कि रोटी नहीं खाना चाहती हो, तो खिचड़ी बना दूँ, हरीरा कर दूँ, कहो, तो हलुआ बना दूँ। मगर सास मना ही करती रहीं। जब आध घंटे से अधिक हो गया, तब सास ख़ुद बोलीं—"बहू, तुझे देर हो रही है, खाना खा ले।"

कला ने उत्तर दिया—"मैं आपके बिना नहीं खाऊँगी।"

"देख बहू, तू अभी लड़की है, खाने से तबियत और ख़राब हो जायगी, फ़िज़ूल ज़िद कर रही है। मैं बीमार पड़ गई, तो तुझे सारा धंधा पीटना पड़ेगा।"

"एक ही ग्रास खा लेना, क्या नुक़सान होगा? मैंने आज तक अकेले कभी नहीं खाया है।" कला ज़रा ज़ोर-ज़ोर से सिर दबाने लगी, और उठने के लिये आग्रह किया।

सास कराहती हुई उठीं और बोलीं—"ले बहू, तू नहीं मानती, तो एक-आध टुकड़ा खा लूँगी। मैं न खाने से अच्छी रहती, तेरे मारे खाती हूँ। मैं तुझे भूखा मारना नहीं चाहती।"

"बड़ी दया होगी।" कला की ज़बान से ये शब्द तुरंत ही निकल गए। जब वह स्कूल में पढ़ती थी, तब अपनी सहेलियों के साथ हँसी में इस वाक्य का अधिक प्रयोग होता था। कहने को कह गई, लेकिन उसे बड़ी लज्जा आई। सोचने लगी, अम्माजी क्या खयाल करेंगी! अम्माजी ऐसी हँसी क्या समझती थीं, वह चौके में जाकर बैठ गईं।

कला लोटा-गिलास माँज, पानी भरकर लाई। थाल साफ़ करके खाना परसा, और पंखे से हवा झलने लगी। अम्माजी ने धीरे से दोनो हाथों के ज़ोर से एक ग्रास तोड़ा और तरकारी से खाया—"उँह, बिलकुल कड़ुवा, ज़बान का स्वाद भी बिगड़ रहा है, हलक़ में चलता ही नहीं।"

कला फ़ौरन् उठी, और कटोरे में बूरा और घी लाकर रख दिया। सास मना करने लगीं, लेकिन घी-बूरे से चार फुलके खा लिए। कला के दोनो हाथ पंखा झलते-झलते थक चुके थे। ज्यों त्यों अम्माजी खाना खा अपनी खाट पर जाकर लेट गईं। कला ने बाद में खाना खाया। खाने के बाद दूध ठंडा किया। एक गिलास बाहर भिजवा दिया। एक गिलास अपनी सास को दिया, बड़े नखरों से पिया। कहने लगीं, क़ब्ज़ न हो जाय। कला ने विश्वास दिलाया कि दूध पीने से तबियत साफ़ हो जायगी। जब गिलास में दो घूँट दूध रह गया होगा, सास ने गिलास बहू को पकड़ा दिया। कला देख रही थी। बोली—"अम्माजी, यह ज़रा-सा और रहा है, पी लो। कहाँ फिरा-फिरा फिरेगा?"

"बस बहू, मेरे बस का नहीं है। मैंने पिया ही कहाँ, तू पी ले, आज बहुत काम किया है। ज़रा मुझे पान लगाकर दे जाना, सिरहाने पानी का लोटा रख देना। आज हाथ-पैरों में धड़का है, कलेजे पर जलन है, जोड़ों में दर्द है और दर्द के मारे सिर फटा जा रहा है।"

कला खड़ी-खड़ी सुनती रही। दूध को एक कोने में जाकर रख

आई, और सास के लिये पानी रख कहा—"अच्छा अम्माजी, मैं जाकर सोती हूँ।"

"कै बजे होंगे बहू?"

"ग्यारह का वक़्त है।"

"अभी तो सोने में देर है। मेरे हाथ-पैरों में बड़ी हड़कल हो रही है, ज़रा दबा दे।" कला को करना पड़ा। खड़ी-खड़ी, नीचे झुकी हुई, दबाती रही। उसे अचंभा इस बात का था कि सास ने बैठने तक को नहीं कहा। जब १२ बजे का घंटा बजा, सास ने करवट ली, और बहू से कहा कि तू अब जा सो।

कला अपनी चारपाई पर जाकर लेट गई। उसे तरह-तरह के ख़याल याद आने लगे। कभी मदरसा याद आता था, कभी अपने माता-पिता की याद आती थी। पड़े-पड़े आँखों से आँसू भी गिरने लगे, और हारी-थकी होने के कारण रोती-रोती सो गई। सबेरे उठी पीछे, पहले घर का काम। आज नया काम चौका लगाना और बर्तन माँजने का था। उठते ही बर्तन इकट्ठे किए और लगी साफ़ करने। सास खाट पर पड़ी-पड़ी कहने लगीं—"ससुर के तो माँजेगी ही, अपने मालिक के भी माँजना। बस मेरे बर्तन छोड़ देना। मैं तुम्हारी कनौडी नहीं होना चाहती। मैं अपनी रोटी हाथ पर खा लिया करूँगी, लेकिन तुझसे नहीं मँजवाऊँगी। खाती भी कहाँ हूँ? दो फुलकियाँ सबेरे और एक या आधी शाम को। भूख ही नहीं लगती, न-जाने पेट में गाँठ लग गई है। जब से बहू आई है, कभी खुलकर भूख ही नहीं लगी।"

कला बर्तन माँजने में चुप सुनती रही। उसे बड़ा दुःख हुआ। सबेरे-ही-सबेरे सास ने लड़ाई ठान दी। न मैं बोली, न कुछ कहा। बर्तन मैं बग़ैर कहे ही माँज रही हूँ। जब इतने माँजूँगी, तो क्या दो बर्तनों में हाथ घिस जायँगे। भूख नहीं लगती है, मेरा क्या दोष? कहे कौन, रात को तकलीफ़ होने पर भी चार फुलके उड़ा लिए। बहू के आने
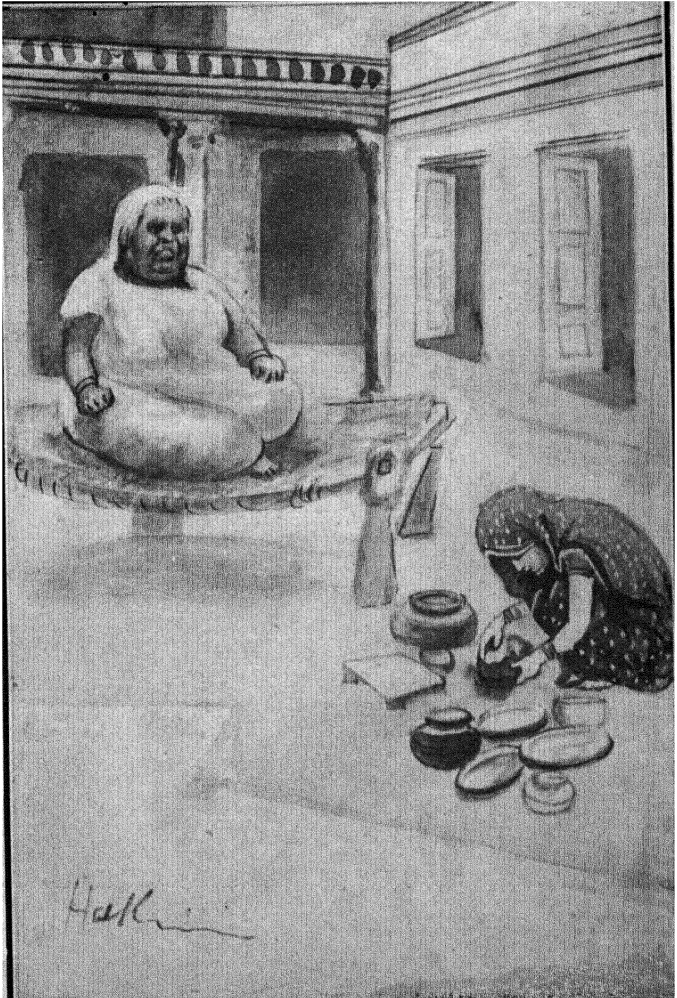
उठते ही बर्तन इकट्ठे किए, और लगी साफ़ करने।

(पृष्ठ-संख्या १००)

से पेट में गाँठ लग गई। अपने ही आप लगती, दिन-भर मुँह चलता रहता है। पिताजी ने दो मन से अधिक गोफ़ेल, पापड़ी, खजले, मिठाइयाँ दी थीं, मोहल्ले में किसी को नहीं बाँटीं, अपने ही घर रक्खीं। जब जी में आता है, निकाल लेती हैं और खाती रहती हैं। मुझे भी भूख न लगे, अगर माल मिलने लगे। कला के जी में तो आया कि सास को अभी उत्तर दे दे, लेकिन चुप रही। मन-ही-मन कहने लगी, और देख लूँ, ऐसे कब तक गुज़रेगी। एक-आध दिन की भुगत भी ले। पीहर जाने नहीं देते, बेबस हूँ। बर्तनों का टोकरा उठाकर चौके में लाकर रक्खा, और मसाला पीसने बैठी थी कि सेठजी ने बाहर से कहा—"ज़रा अंदर हो जाना।" कला अंदर किवाड़ की ओट में जाकर खड़ी हो गई। क्या देखती है कि बढ़ई साथ-साथ है। सेठ साहब चक्की ठीक करवाने लाए थे। कला का माथा ठनकने लगा। खैर, वह तो चले गए, कला काम-काज में लग गई। खाना खाने के लिये सेठजी सबसे पहले आ जाते थे। कला ने परसा, और चौके से ही घूँघट काढ़ बाहर चौकी पर रख दिया। कला की सास खाट की पट्टी पकड़े लेट रही थीं, और ज़ोर-ज़ोर से कराहने लगती थीं।

सेठजी बातें करते, तो किससे? अपने आप कहते जाते थे, बड़ा अच्छा भोजन बना है, दाल बहुत स्वादिष्ठ है। मसाला अच्छा पिसा, थाल चाँदी का-सा मालूम होता है। रोटियों में ज़रा-सा किसकिसापन है। पिसनहारी कुछ ज़रूर मिला लाती होगी। गेहूँ एक-एक दाना बिनकर जाता है। इन लोगों का क्या भरोसा। न-जाने ज्वार मिलाती हैं या जौ या रेत। बहू, मैंने आज चक्की बनवा दी है, तू मेरे लिये आध सेर गेहूँ पीस लेना, मुझे दोनो वक़्त के लिये काफ़ी है। घर का आटा बड़ा ताक़तवर होता है। अगर तू चाहे, तो सेर-भर ही पीस लेना। भागमल दुबला होता जा रहा है, वह भी घर के आटे की रोटियाँ खा लिया करेगा। बस, मेरे लिये ही पीसना बहू।

करती, तो क्या करती ? जिन हाथों ने कभी चक्की से हाथ तक नहीं लगाया था, वे पीसें ! जिसके कानों को पड़ोस की चक्कियों की आवाज़ बुरी मालूम होती थी, वह घर्र-घर्र अपने कान पर ही सुनेगी। पराए-वश करना पड़ा। पहले से जान गई थी कि पिसनहारी भी छूट जायगी, ऐसा ही हुआ। सारे घर के लिये पीसना, चौका-बर्तन करना, रोटी करना, ऊपर का काम और उस पर भी सास की टहल करनी पड़ती थी। कला काम के मारे थककर चूर हो जाती थी। रात को सोने पर ख़बर भी नहीं रहती थी। बहू क्या हुई, ग़ुलाम से भी बुरी हालत थी।

धनाढ्य की संपत्ति

सेठ प्रभुदयाल लखपती आदमी थे। शहर के गिने-चुनों में उनका नबर आता था। मकान पक्का, तीन मंज़िल का था। शहर से बाहर एक बाग़ था। बाज़ार में कई दूकानें थीं। उन दूकानों के सामने, चबूतरों पर, कुँजड़े और छोटे-छोटे खोंचे लगानेवाले बैठते थे। यह ज़मीन भी उन्हीं की थी। चुंगी के सेक्रेटरी से मेल-जोल हो जाने पर, या यों कहिए, सेक्रेटरी ने स्वयं मेल करके, अपना कार्य सिद्ध कर सेठजी की ज़मीन उन्हीं के पास छोड़ रक्खी थी। लेन-देन होता था, चीज़ें गिरवीं रक्खा करते थे। कम-से-कम इकन्नी रुपए का सूद था। अधिकतर दोअन्नी रुपया ही लेते थे। धन दिन दूना रात सवाया बढ़ता था। रहने-सहने का ढंग बनियों का-सा था। सबेरे रोटी और एक दाल तथा शाम को एक तरकारी बन जाती थी। कभी-कभी अचार या चटनी में भी तरकारी से अधिक स्वाद हो जाता था।

जब से भागमल की शादी हुई, उन्हें एक मिसरानी रोटी करने के लिये रखनी पड़ी। उससे तो जैसे-तैसे करके छुटकारा पाया। ग़रीब कला के सुपुर्द यह काम हुआ। खाने-पीने में खर्च ज़्यादा होता था। दिन में सबेरे एक दाल और एक तरकारी, शाम को तीन तरकारी। सेठजी इतने खर्च को क्योंकर बर्दाश्त कर सकते थे! एक दिन का होता, तो भुगत लेते। इस ढंग से घर में खाना बनते हुए एक महीने से ज़्यादा हो गया था। उनको बड़ी फ़िक्र होने लगी। एक दिन खाते समय बोले - "बहू, तुझे इतने साग बनाने में बड़ी तकलीफ़ होती होगी, हमारे लिये सिर्फ़ सबेरे एक दाल और शाम को एक तरकारी बना लिया करना। यों अगर तू चाहे, तो अपने

लिये और तरकारियाँ बना लिया करना। तुझे सारे दिन काम में लगा रहना पड़ता है। दोपहर को सोना तो अलग, रात को भी ग्यारह-ग्यारह बज जाते हैं।"

कला ने सुन लिया, और चुप उसी रोज़ से उनके हुक्म की तामील होने लगी।

भागमल ने ब्याह होने से अजीब रंग बदले। पहले घर का थोड़ा-बहुत काम कर लेते थे, मगर विवाह के बाद से ही अपने यार-दोस्तों के मशविरे से दिन-भर आवारा घूमना शुरू कर दिया। सबेरे पाँच बजे बग़ीचे जाना, कसरत करना, नहाने से पहले सुलफ़े की चिलम में दम लगाना, फिर भाँग घोट-छान, पी नशे में लौट आना, और खूब खाना खा शाम के पाँच बजे तक या तो ताश खेलना या पड़कर सो जाना। शाम को भी रात के आठ बजे तक सबेरे का-सा प्रोग्राम रहता था। अपने खाने के लिये बाज़ार मे ही दही-पकौड़ी, रबड़ी, मिठाई ले आया करता था। रुपया सेठजी ने कभी नहीं दिया। अपनी मा से छीन-झपटकर ले जाता था या यार-दोस्तों से उधार कर लेता था।

संगत का प्रभाव नौजवानों पर ऐसा पड़ता है, जो जन्म तक छूटना दूभर हो जाता है। सेठों के लड़के पढ़े-लिखे जितना होते हैं, सबको मालूम है। मुड़िया पढ़ ली या हिंदी के अक्षर पहचान लिए। तार कहीं से आ जाय, तो बाज़ार में पढ़वाते डोलते हैं या कोई अँगरेज़ी पढ़ा चतुर अपनी मित्रता स्वार्थ करने के लिये उनके काम कर देता है। भागमल अपने पिता का इकलौता लड़का था, शहर-भर को मालूम था। वहाँ के छटे हुए मक्कार लोगों ने उससे मित्रता कर ली। पहले अपनी जेब से खूब खिलाया-पिलाया और तरह-तरह के नशों में डाल दिया। शराब भी पीने लगा, जुए की चाट भी लग गई, सट्टे भी लगाने लगा।

भागमल को अब दिन-रात रुपयों की ज़रूरत पड़ने लगी। रोज़ाना का ख़र्च बहुत था। वह भी अकेले का नहीं, बल्कि सारे साथियों का, फिर जुए और शराब के लिये। उधार जब तक मिलता रहा, लेता रहा; न मिलने पर बड़े-बड़े सेठ-साहूकारों को रुक्का लिख-लिखकर क़र्ज़ लेना शुरू किया। १०० रुपए उधार लेता, २०० का रुक्का लिखता। बीसों रुक्के कर लिए। इसकी भनक सेठजी के कानों में भी पड़ी, किंतु भागमल के दोस्तों ने, जिनमें बने हुए शरीफ़ थे, सेठजी को समझा दिया कि सब ग़लत है। सेठजी ख़ामोश होकर बैठ रहे।

सेठजी का नित्य नियम था कि चाहे भूखे रह जायँ, शरीर पर कपड़ा न हो, बीमारी में दवा न आए, लेकिन पैसा ख़र्च न हो। पैसे का ख़र्च हो जाना बस उनके लिये मौत थी। शाम को दरवाज़े पर बैठे हुए इंतज़ार किया करते थे। जब कुँजड़े अपना सौदा बेचकर घर वापस जाते थे, सेठजी का दस्तूर था कि उनके झौवे उतारकर उसी में से जो कुछ बची-खुची सब्ज़ी रहती थी, ले लेते थे। कुँजड़े भी मक्कार होते हैं, गली-सड़ी लाकर सेठजी के सामने रख देते थे। उनका उपाय ठीक था। सेठजी ने जब से होश सँभाला था, कभी मोल की तरकारी नहीं खाई। उनके चबूतरों पर बैठनेवाले उन्हें शाम को दे जाया करते थे। इसी कारण रात को बारह-बारह बजे तक चूल्हा जलता रहता था।

कला को शाम के सात बजे सब्ज़ी मिलती थी। उसी वक़्त छीलना-कतरना पड़ता था। सब्ज़ी भी क्या! चार आलू, दो तोरई, छ घुइयाँ, आध पाव मेथी का साग, छटाँक-भर पालक का साग, एक मूली इत्यादि। दो-दो दिन की सब्ज़ी इकट्ठी हो जाती थी, तब कहीं घर के लायक़ भाजी बनती थी। शायद ही कोई ऐसा दिन आकर पड़ता हो, जिस रोज़ कला को तरकारी-भाजी बच रहती हो।

बेचारी नमक रखकर खा लेती थी। चटनी के लिये अँबिया, पोदीना आना भी बंद हो गया। रोज़ाना रात को रोटी खाते समय रो लेती थी। एक समय वह था, बाप के घर मनमानी तरकारी, मिठाई, तरह-तरह के खाद्य पदार्थ मिलते थे। एक दिन यह कि रोटियाँ पानी के साथ खानी पड़ें! घर में सब कुछ था, लेकिन कला के नाम का बिलकुल नहीं था। सास अपनी बूरा-भुस्सी बेचकर कुछ-न-कुछ मँगाकर खाती रहती थीं। घर के सब आदमी कला से पहले रोटी खाते थे, पतीली साफ़ कर जाते थे। कला उन स्त्रियों में से नहीं थी कि पहले ही से तरकारी कटोरी में निकालकर दुबकाकर रख ले।

एक दिन रात के आठ बज गए। सेठजी ने दरवाज़े पर सारे जानेवाले कुँजड़ों के झौवे देख डाले, कुछ नहीं मिला। जिसका झौवा देखें वही ख़ाली। आख़िर एक बुढ़िया आई, और उसके झौवे में कुछ मूली के पत्ते और सड़ा-गला साग रक्खा था। सेठजी ने वह सारा-का-सारा ले लिया। बुढ़िया ने हरचंद कहा कि मेरी बकरी भूखी मर जायगी, दया कीजिए। मगर सेठजी ने कुछ न सुनी। डाट-फटकारकर कह दिया, तुझे कल से चबूतरे पर नहीं बैठने दूँगा। हार-झक मारकर रोती हुई चली गई। धोती के पल्ले में सारा साग लाकर खाट पर डाल दिया और बहू से बोले—"बेटी, आज सब साग मिलाकर बनाना। दाल मत डालना। मुझे बग़ैर दाल के ही अच्छा लगता है।"

कला ने साग बनाना शुरू कर दिया, एक घंटे से अधिक लगा। सड़े-गले, मैले-कुचैले, टूटे-कुचले सब तरह के पत्ते थे। बेचारी एक-एक करके फूलों की तरह चुन-चुनकर निकालती रही और बग़ैर दाल के साग घोटकर रख दिया। मन में सोचती थी कि बग़ैर दाल के साग तो कड़वा होगा।

सेठजी खाने के लिये आए। खाट के पास साग की पत्तियाँ पड़ी हुई थीं, जो कला ने छाँटकर फेंक दी थीं, और उन्हें कूड़े पर डालना

भूल गई थी। सेठजी ने उन पत्तियों को एक टोकरी में समेटकर रख दिया, और कहने लगे—"बहू को रात में दिखाई न दिया, अच्छा साग भी तो ज़मीन पर फेंक दिया है।" खाते समय साग की बड़ी प्रशंसा की, और बोले—"कल भी साग ही बनाना।"

जब खाना खाकर उठने लगे, तो बहू ने अपनी सास से कहलाया कि कल एक लोटा छाछ आ जायगी, पड़ोस की ब्राह्मणी कह गई है। यदि ससुरजी आज्ञा दें, तो कढ़ी बना लें। सास इन्हीं शब्दों को अपने पुराने ढग में कहने लगीं—"बहू का मन कढ़ी को कर रहा है, छाछ मैं मँगा लूँगी। कहो, तो कल कर ली जाय।"

सेठजी आश्चर्य से बोले—"कढ़ी! क्या होगी? मौसम अच्छा नहीं है, देर भी बहुत लगती है। इतने की कढ़ी न होगी, जितनी लकड़ी फुक जायगी।"

"क्या हर्ज है, बहू का मन रह जायगा।"

कला ने सुन लिया, उसे क्रोध आ गया। यदि वह बोलती होती, तो तुरंत ही सास को बतला देती कि किसका मन है। सास ने ही पहले कहा था कि बहू, यों कहना। मेरे कहने से कढ़ी नहीं बनवाएँगे, और अब बहू पर सारी बात टाल दी। हिंदुस्थानी रिवाज—बहू चुप बैठी रही।

सेठजी ने अलग बुलाकर कहा—"तुम तो बावली हो। छाछ मुफ़्त आ गई, मान लिया। आध सेर बेसन चाहिए, एक आने का हुआ, फिर पकौड़ी सेकने को दो आने का तेल चाहिए, मिर्च-मसाला लगा, सो अलग। लकड़ियाँ-उपले जितने लगे, उनका कोई हिसाब नहीं। तीन आने वैसे ख़र्च हो गए, एहसान छाछ देनेवाले का गिनती ही में नहीं। बहू से कह देना और समझा भी देना कि छाछ का नोन-मिर्च का रायता कर ले, और अगर कोई चीज़ बनानी हो, तो अरहर की दाल बना ले। काफ़ी है।"

सेठानीजी ने कहा—"मैं नहीं कहूँगी।"

"क्यों डर लगता है?"

"डर की क्या बात है, मैं कंजूस क्यों कहलाऊँ। बहू के लिये एक तो उदार चित्त की चाहिए।"

सेठजी हँस पड़े—"अच्छा, तुम्हीं धर्मात्मा बनो। मैं जाकर कहे देता हूँ।" उन्होंने अपनी उसी भाषा में बहू को समझा दिया।

सेठजी की तरकारी-भाजी की गुज़र मुफ़्त हो ही जाती थी, परंतु वह संतुष्ट न थे। सबेरे-शाम घर के दरवाज़े के सामने माला हाथ में लेकर खड़े हो जाते, और ज़ोर-ज़ोर से राम-राम, सीताराम कहते हुए ठोरी में आने-जानेवाली गाय-भैंसों की बाट देखते रहते थे। जैसे ही वे वहाँ से गुज़रती थीं, उनका गोबर इकट्ठा कर लेते, और अपने हाथों से उपले पाथ सुखा देते थे। लकड़ी तो उन्हें अवश्य ही ख़रीदनी पड़ती थी, लेकिन कुछ थोड़ा-बहुत सहारा मिल ही जाता था।

मोहल्ले में सेठजी को सब कंजूस के नाम से पुकारा करते थे। दूकानदार सदा डरते रहते थे कि कहीं सेठजी आकर कुछ माँगने न लगें। कंजूस होने के कारण सेठजी तंबाकू, पान और नशे की चीज़ें कुछ भी नहीं खाते-पीते थे। जब उनके जी में दूसरे-तीसरे दिन आता, तो दूकान पर जाकर एक चिलम तंबाकू माँग लाते थे, मना कोई नहीं करता था। सबको यह लालच था कि न-जाने कब किस समय सेठजी से काम आ पड़े, और क़र्ज़ लेने की ज़रूरत पड़ जाय। तंबाकू माँगने का बहाना सेठजी का विचित्र था। पेट में दर्द का बहाना करके माँगा करते थे। यदि किसी घर में पीली या चिकनी मिट्टी के बोरे आवें, तो सेठजी तुरंत ही अवसर पर पहुँचते, और वहाँ से चुपचाप दो डले हाथों में उठा लाते थे। मालिक ने अगर देख लिया, तो कह देते थे कि आज ही मिट्टी निबट गई है, कल आप हमारे यहाँ से दूनी ले आना।

सेठजी के कपड़े अनोखे थे। गर्मी की ऋतु में एक अँगौछा दिन-रात बँधा रहता था। नहाते भी दूसरे ही अँगौछे से थे। लोगों के पूछने पर कहा करते थे कि गर्मी बड़ी सख्त पड़ती है, कपड़े बदन पर डालने को जी नहीं चाहता। जाड़ों में रुई की वास्कट और एक चुस्त रुई का पाजामा पहने रहते थे। सिर पर रुई का टोप होता था। पैरों में कभी साबुत जूती नहीं होती थी, न-जाने कहाँ से इकट्ठा करते थे। बहुधा एक पैर में साबुत जूती, जिसकी एड़ी फटी हुई और दूसरे में शायद ही पंजा आता हो, रहती थीं। दोनो जूती अलग-अलग ढंग की होती थीं। एक सलेमशाही, तो दूसरी गोल पंजे की। बाहर आने-जाने और अफ़सरों से मिलने के लिये एक अचकन, एक सफ़ेद पाजामा, सिर पर पगड़ी और पैरों में मुड़ाल जूता होता था। सेठजी को ये कपड़े उनके पिता बनवाकर मर गए थे। अपनी ज़िंदगी में उन्होंने इतनी फ़िज़ूलखर्ची करना स्वप्न में भी नहीं देखा था। मोहल्ले के लोग तो सेठजी के बारे में ख़ूब बातें गढ़ा करते थे, लेकिन इतनी बात सेठजी भी मानते थे कि रुई की वास्कट चौदह साल की पुरानी है, और अभी दो-चार साल और चल जायगी। भला हो भागमल का, जो उसकी शादी में लाला दीनदयाल ने सेठजी को पाँचो कपड़े, दुशाला और गले के डुपट्टे दे दिए थे। अब उन्हें कपड़े बनवाने की कभी ज़रूरत हो ही नहीं सकती थी। जब कभी सेठजी इन कपड़ों को अपनी पोटली खोलकर देखा करते, तो बड़े दुःखित होते थे, और लाला दीनदयाल की बेवक़ूफ़ी पर क्रोधित भी हो जाते थे। बात ठीक थी, भागमल की शादी उन्होंने इसीलिये की थी कि लाला दीनदयाल का सारा धन बेटी के नाम होगा और भागमल के नाम चढ़ेगा। यह सारा माल-टाल भागमल का है, और भागमल के रुपए को इस प्रकार नष्ट करना ठीक नहीं। भागमल मेरा लड़का है ही। बस, मेरे धन को, जिसे मैं एक-एक कौड़ी जमा करके इकट्ठा कर

रहा हूँ, बिगाड़ना उचित नहीं। गौने की रुख़सत न करने का वास्तविक मंतव्य यही था कि लाला दीनदयाल भागमल को हार-झक-मारकर आधी जायदाद तो दे देंगे, और उन्होंने इशारा भी कर दिया था। लेकिन लाला दीनदयाल गौने के बाद से कभी भागमल की तरफ़ झाँके तक नहीं। यही सबसे बड़ा कारण कला के दिक़ करने का था, जिसे टहलनी की तरह रख छोड़ा था, और सारे घर का काम कराते थे। भागमल अपनी आवारागर्दी में मस्त थे। कला ने कभी इस बात की शिकायत तक न की। एक दिन दबी ज़बान से कहा भी, तो भागमल लापरवाही से इस कान सुन और उस कान निकाल बाहर चला गया, और अपने पिता से कह दिया। लाला प्रभुदयाल को मौक़ा मिल गया और बहू से बोले कि अगर तुझे काम ज़्यादा करना पड़ता है, तो बाप के यहाँ से टहलनी मँगवा ले, धन किस काम आवेगा? इसी तरह की बातों से वह कला को दिक़ किया करते थे, और वह चुपचाप सुनती रहती थी। पति की तरफ़ से सदा उसका जी कुढ़ा करता था, किंतु अपने हिंदू-धर्म के अनुसार बड़ी भक्ति से सेवा करती, और अनेक प्रकार के कष्ट सह लिया करती थी।

एक दिन कला सबेरे अपना सिर साबुन से धो रही थी। घर पर मुलतानी मिट्टी काम में लाया करती थी, लेकिन सेठजी के यहाँ मुलतानी मिट्टी नहीं थी, मँगाती किससे? सास से कहा भी, उसने अकटी-बकटी कहकर उसको डाट दिया। साबुन का सफ़ेद पानी मोरी से निकल रहा था, सेठजी ने समझा, कहीं से छाछ आई होगी, उसको बिखेर डाला है। घर के अंदर खाँसते-मठारते आए, और पूछा—"यह सफ़ेद पानी कहाँ से निकल रहा है?"

उनकी धर्मपत्नी बोलीं—"मुझे क्या ख़बर?"

"आख़िर देखो तो सही। कहीं छाछ-दूध बिखर तो नहीं गया।"

सेठानी बड़बड़ाती उठीं—"तुम्हारे घर में दूध-दही कहाँ से

आया !" पर्दे के पीछे देखकर कि बहू साबुन से नहा रही है, ज़ोर से बोल उठीं—"पानी आता कहाँ से, तुम्हारी बहू साबुन से सिर धो रही है। बहू थोड़े ही है, उसे तो मेम कहना चाहिए। हमारे बाप-दादों ने कभी साबुन का नाम नहीं सुना। बहू रानी हाथ-मुँह धो रही हैं। हम भी कभी बहू रहे थे।"

सेठजी चुप हो गए, और अपनी स्त्री की तरफ़ देखते रहे। स्त्री ने फ़ौरन् यह कहकर कि मेरी तरफ़ क्या देखते हो, अपनी बहू से कहो, मुँह फेर लिया, और बड़बड़ाती रहीं—"मैं किस-किस बात को मना करूँ। दिन में हज़ार बातें होती हैं, कुतिया की तरह भूँकती रहती हूँ। तुम अगर घर में रहो, तो घंटे-भर में उकताकर चले जाओ। अभी तुमने देखा ही क्या है, मेमों की तरह कंघा लगाती है, चुटिया थोड़े ही गूँथी जाती है, अपने आप बाँध लेती है, न माँग न पटिया। जिसे अपने सुहाग का ख़याल नहीं, वह किसका लिहाज़ और शर्म करेगी। बेटा तो छैल थे ही, उनकी बहू उनकी भी गुरू निकलीं।"

सेठजी के लिये इतनी बात सुनकर क्रोध न आना असंभव-सा था। कहना बहुत कुछ चाहते थे, मगर इतना कहकर चले गए कि "देख बहू, साबुन अँगरेज़ बनाते हैं, इसमें चर्बी होती है। न-जाने सुअर की हो या गाय की। अगर तूने आज से साबुन से सिर धोया, तो हम तेरे हाथ की रोटी नहीं खायँगे, न तुझे चौके में जाने देंगे। बस, घर में एक कोने में पड़ी रहना।"

कला सिर क्या धो रही थी, अपने कर्मों को ठोक रही थी। पानी की इतनी बूँदें बालों से नहीं गिर रही थीं, जितने आँसू उसकी आँखों से टपक रहे थे। उसकी हिल्की बँध गई। अपनी मा को मन-ही-मन गाली देने लगी—हाय! जिस मा ने लड़का नहीं देखा और रुपए पर डूब गई, उसे कौन अपनी मा कह सकता है! संसार में कितनी ऐसी मा होंगी, जिन्होंने अच्छे वर अपनी लड़कियों के लिये चुने

हों ? मेरे विचार में कोई नहीं। कितने ऐसे पिता होंगे, जिन्होंने अपनी बात को कुपढ़ स्त्रियों के सामने पूरा किया होगा ? एक भी नहीं। सिर निचोड़, अंदर कोठरी में आकर रोने लगी। बाहर से भागमल आ गए, और सीधे उसी कोठरी में घुसे चले गए। कला ने तुरंत ही अपनी आँखों के आँसू पोछ लिए, और दीवार की तरफ़ मुँह करके खड़ी हो गई।

भागमल का पहला मौक़ा था कि उसने अपनी स्त्री से प्रेम-सहित बातें कीं। वह बोला—"मुझे मालूम है, तुम बहुत दुःखित रहती हो।"

"परमात्मा का शुक्र है, आपको मालूम हो गया।"

"इसका उपाय केवल एक तरह से हो सकता है, वह यह कि तुम कुछ रुपया अपने खर्च के लिये मँगा लो, और काम में लाओ। पिता बड़े कजूस हैं।"

"आप ठीक कहते हैं। मुझे पीहर क्यों नहीं भेज देते ?"

भागमल ज़रा चौंका, और बोला—"मेरे क़ब्ज़े की बात नहीं।"

"यदि आपके अधिकार में नहीं, तो मैं यहाँ से मरकर ही जाऊँगी। दिन-रात की हाय-हाय सहनी पड़ती है। न खाना, न पीना, सबेरे से शाम तक लड़ाई-झगड़ा।"

"सहना पड़ेगा। मैं माता-पिता के खिलाफ़ कुछ नहीं कर सकता। तुमको जैसे रक्खेंगे, रहना पड़ेगा। मैं न कमाता हूँ, न कहीं से मेरी आमदनी है। हमें तो उन्हीं पर रहना पड़ेगा। एक बात हो सकती है, एक पत्र अपने पिता को लिख दो, उसमें अपना सारा हाल लिख देना, मैं भी मिल आऊँगा, और उसमें १००) के लिये लिख देना।"

कला ने पहले तो मना किया कि आपके ऊपर बट्टा लगेगा, लेकिन पति के आज्ञानुसार पत्र लिख हवाले किया। भागमल अपने उसी फ़ैशन में ससुराल चल दिए, और साथ एक रुपए की मिठाई ले गए, क्योंकि एक के दो मिलेंगे ही, थोड़ा-बहुत और कुछ भी मिलेगा।

भयानक दृश्य

वीरेश्वर सीधा लायलपुर पहुँचा। वहाँ केसरीसिंह इंस्पेक्टर थे। स्टेशन पर ताँगेवाले से पता पूछकर कोतवाली गया। केसरीसिंह बैठे हुए अपने काग़ज़ उलट-पलट रहे थे। वीरेश्वर ने जै रामजी की की। पहले केसरीसिंह न पहचान सके, लेकिन आवाज़ सुनकर और ग़ौर से चेहरे की तरफ़ देखकर उन्होंने बैठने के लिये कहा और पूछा—"वीरेश्वरजी, अच्छी तरह हो?"

"आपकी कृपा है।"

"कितने दिन वहाँ से आए हुए?"

"तीन महीने के क़रीब।"

"आजकल क्या करते हो?"

"वही धुन।"

"कौन-सी?"

"शीला का पता।"

"अच्छा, अभी वैराग निकला नहीं? हाँ, ये बातें तो पीछे होती रहेंगी। खाना हमारे यहाँ का बना हुआ खा लोगे? गोश्त तुम नहीं खाते हो?"

"कोई उज्र नहीं। गोश्त अलबत्ता मैं न खाऊँगा।"

केसरीसिंह ने अपनी छोटी लड़की को पुकारकर कहा—"इनके लिये खाना बनेगा। कोई जल्दी नहीं।" फिर अपने काम में लग गए, और सिपाहियों से बातें भी करते जाते थे। वीरेश्वर की तरफ़ देखकर बोले—"मैं जानता हूँ, आपसे बहुत कुछ बातें करनी होंगी, लेकिन मैं इस काम से निबट लूँ, फिर आपकी ही बातें सुनूँगा।

मैं अपने एक दोस्त को और बुलाए लेता हूँ, जो पुलिस में बहुत दिनों से काम कर रहे हैं। वह मेरे रिश्तेदार भी हैं। उनके सामने कोई बात न छिपाना। जैसे साफ़-साफ़ मुझसे कह सकते हो, उनके सामने भी कह देना।"

वीरेश्वर सरदारजी का इशारा पाकर मकान के अंदर चला गया, और वहाँ जाकर दोनो बैठ गए। सरदारजी का बुड्ढा जमादार भी आ गया। वीरेश्वर सँभलकर बैठ गया, और जमादार की तरफ़ देखने लगा। जमादार ने पूछा—"क्या यह वही हैं, जिन्हें शीला के मामले में सज़ा हुई थी?" सरदारजी ने सिर हिला दिया, और वीरेश्वर नीची निगाह कर ज़मीन की तरफ़ देखने लगा।

जमादार ने कहा—"शरमाने की कोई बात नहीं। सरकार जहाँ सैकड़ों को ठीक सज़ा देती है, वहाँ एक-दो ग़लती से भी फँस जाते हैं। अब आप मुझे यह बतलाइए कि शीला कहाँ है?"

"मुझे क्या मालूम।"

"कुछ तो पता होगा?"

"जमादार साहब, आप ग़लती कर रहे हैं। शीला के बारे में मैं कुछ नहीं जानता।"

"अच्छा, जब तक आप जेल में रहे, आपने शीला के रहने का प्रबंध कहाँ किया?"

"शीला होती, तभी तो करता।"

"आपके कोई ऐसे रिश्तेदार नहीं, जिनके पास आप उसे छोड़ देते और वह वहाँ आराम से रहती?"

वीरेश्वर को बड़ा अचंभा हुआ। उसने कहा—"आप मेरे साथ पुलिसवालों की चाल चल रहे हैं। अगर मैं वाक़ई शीला को ले गया होता, तो जेल काटने के बाद आपके पास आता या वहीं सीधा जाकर रुकता? आप मामले की बात कीजिए।"

जमादार साहब हँसे, और सरदारजी से आँखें मिलाकर वीरेश्वर से कहा—"मुमकिन है, आपको शीला का पता हो, और अब किसी दूसरे को फँसाना चाहते हो। पुलिस में ऐसे मामले रोज़ आते रहते हैं। आप ठीक बतला दीजिए कि शीला कहाँ है।"

"जिस आदमी को यक़ीन न हो, उसके सामने क्या हृदय फाड़कर रक्खा जाय? मैं आपसे कहता हूँ कि मुझे बिलकुल पता नहीं कि वह किस जगह है।"

जमादार ने भड़कती हुई आवाज़ में कहा—"कुछ उसका सुराग़ भी मालूम है?"

वीरेश्वर ने चुपके से कह दिया—"कुछ नहीं।"

जमादार सरदारजी की ओर सरककर बैठ गए, और पुलिस के इशारों द्वारा, जो चेहरे की चितवन या आँखों से ताश खेलनेवालों की तरह भली भाँति हो जाते हैं, एकदम वीरेश्वर पर नाराज़ होने लगे, और ख़ूब चिल्लाना शुरू किया। वीरेश्वर पहले तो उनकी धमकियों को सुनता रहा, मगर फिर सहन न कर उसने कहा—"आप ज़रा होश में आएँ। आपने क्या मुझे बदमाश समझ रक्खा है, जो इस तरह डाट रहे हैं? मैं कई दफ़ा कह चुका हूँ कि मुझे शीला के बारे में कुछ भी मालूम नहीं, और आपको विश्वास नहीं होता।"

जमादार का चेहरा ग़ुस्से से सुर्ख़ हो गया और वह तेज़ होकर बोले—"तुम क्या बदमाश से कम हो? सबूत के लिये इतना काफ़ी है कि अभी दो साल काटकर आए हो। सरकार इतनी ग़लती नहीं करती कि निर्दोष को ख़ामख़ाँ सज़ा दे दे। सरदारजी, मुझे पूरा यक़ीन है कि इसी बदमाश की सारी कारस्वाई है, और अब शरीफ़ बनता है।"

वीरेश्वर की साँस बाहर की बाहर और अंदर की अंदर रह गई। उसके पैर के नीचे की ज़मीन निकल गई। किस आधार पर बात करने का साहस करता। सरदारजी के ऊपर सारी आशाएँ थीं,

वह भी जमादार के उलटे-सीधे कहने पर चुप रहे। वीरेश्वर ने हिम्मत करके कहा—"आप जो कुछ बात करें, होश में करें। अपनी हैसियत देखकर बात कीजिए। मैं अब तक आपके सिख होने के कारण आपकी इज़्ज़त कर रहा था, लेकिन यदि आपको अपनी पुलिस की वर्दी पर रोब है, तो मैं उसे ज़लील ही नहीं, बल्कि कमीन समझता हूँ। आप आयंदा से होश में बातें करें।"

जमादार ने थोड़ी देर तक मार-पीट की धमकी दिखलाई, लेकिन वीरेश्वर की बहादुरी और सरदारजी के समझाने पर जमादार रास्ते पर आ गए, और ढंग से बातें करने लगे। सरदारजी ने खाने के लिये वीरेश्वर को अंदर ले आना चाहा, लेकिन उसने इनकार कर दिया।

सरदारजी ने कहा—"आप नाराज़ न हों। पुलिस के ये ढंग हैं। कच्चा-पक्का इन बातों से अपने भेद बतला देता है।"

जमादार भी हँस पड़े और बोले—"बाबू साहब, जो सवाल मैंने पूछे हैं, अदालत में भी पूछे जाते। वहाँ ग़ुस्सा या चुप रहना काम नहीं देता। हमें मालूम हो गया, आप बिलकुल बेख़ता हैं। हम आपको शीला की तलाश कर देंगे।"

वीरेश्वर ने शीला का नाम सुनते ही एक गहरी साँस भरी, और धीरे से कहा—"ईश्वर मालिक है। अगर वह न मिली, तो मेरे ऊपर ही नहीं, बल्कि पढ़े-लिखे जवानों पर बट्टा है। जो लोग लड़कियों को शिक्षा देना चाहते हैं, पर्दे की बुरी रस्म तोड़ना चाहते हैं और एक आदर्श के अनुसार पुरानी सभ्यता को फिर से ज़िंदा करना चाहते हैं, उनके विरोधियों को बात करने का अवसर क्या इससे अधिक अच्छा मिल सकता है?"

"आप ठीक कहते हैं। हर मामले के शुरू करने में बुराइयाँ होती ही हैं। अपनी-सी बहुत कुछ करेंगे। आप खाना खाइए। थाल आए हुए काफ़ी देर हो गई है। खाना भी ठंडा हो चुका होगा।"

"मुझे भूख नहीं।" कहकर वीरेश्वर कुर्सी से तकिया लगाकर बैठ गया, और ऊपर की तरफ़ आँख फाड़कर देखने लगा, मानो उसे किसी बड़ी भारी समस्या पर विचार करना है।

सरदारजी ने प्रार्थना की—"आप खाइए। इन बातों का बुरा मानना ठीक नहीं। खाने के बाद आपको और बहुत-सी बातें इस मामले में बतलाएँगे। शुरू करो न।"

वीरेश्वर ने बहुत कुछ कहने-सुनने पर खाना खाया। धीरे-धीरे उसने थोड़ा-सा खा पानी पिया, और थाल सरका कर बैठ गया। जमादार से बोला—"कहिए, शीला के बारे में क्या किया जाय?"

"सरदारजी बतलाएँगे। मैं तो सिपाही हूँ।"

वीरेश्वर ख़ामोश हो गया। उसे सरदारजी की तहक़ीक़ात का मामला याद आ गया। उसने पूछा—"जिस मामले में सरदारजी आए थे, कुछ पता लगा?"

"कौन-सा मामला?"

"वही न, एक गाँव से एक हिंदू लड़की ग़ायब हो गई थी। सरदारजी के सुपुर्द वह काम हुआ था।"

"अच्छा, याद आ गया। वह मामला आपके मामले से भी ज़्यादा टेढ़ा है। न-जाने क्या होता चला जाता है। हिंदुओं की स्त्रियाँ बहुत भागती हैं, या लोग उन्हें ही क्यों भगाकर ले जाते हैं। जहाँ सुनो, वहीं मालदार की बेटियाँ भागती हैं। पंजाब में ऐसे क़िस्से ज़्यादा होते हैं।"

"ऐसा आप नहीं कह सकते। क्योंकि लड़कियों का भागना पंजाब में उनकी मर्ज़ी पर नहीं। वे बेचारी ज़बरदस्ती भगा दी जाती हैं। बहुधा विधवा या वे लड़कियाँ, जिनकी शादी बेमेल होती है, ऐसा काम करती हैं; मगर बहुत कम। हिंदू-धर्म में विधवा स्त्री को इतनी मुसीबत रहती है, जिसका कुछ ठिकाना नहीं। और,

यह मामला दूसरा है। बड़े-बड़े नागरिक इसे सोच रहे हैं, किंतु असली बात पर कोई नहीं पहुँचता। जब तक स्त्रियाँ जाटनियों की तरह दुरुस्त न होंगी, और मुक़ाबले पर तैयार न होंगी, तब तक कुछ नहीं हो सकता। अगर जाटनियों के-से सबके शरीर हो जायँ, तो क्या मजाल कि कोई आँख मिला जाय। जमादारजी, मुझे पहले उस क़िस्से को बतला दीजिए, फिर ऐसी बातें करते रहिएगा।"

जमादार ने कहा—"भगवंत नगर एक गाँव है। वहाँ एक साहूकार की बेटी थी। उसकी शादी हो चुकी थी। उम्र सोलह साल की होगी। जिनकी बेटी थी, वह गाँव में अच्छे खाते-पीते हैं। गाँव मुसलमानों का है। एक रात को लड़की ग़ायब हो गई। बहुत तलाश की गई, मगर पता न चला। पुलिस में रिपोर्ट आई। सरदारजी और मैं गया। देखिए, हम आपको बतलाए देते हैं कि अगर कोई मुसलमान होता, तो सुनता तक नहीं। वहाँ तो हर महकमे में यही हाल है कि हिंदुओं को मुसलमान दुश्मन समझते हैं।"

"फिर क्या हुआ?"

"हाँ, हम लोग गए। वहाँ दो-चार को पीटा। डाट-डपट की। नंबरदार मुसलमान था, उसने बहुतेरा चाहा कि मामला न चले, मगर सरदारजी अड़ गए। दो बदमाशों को बुलाया, उनसे पूछा, वह भी कुछ न बतला सके। आख़िर गाँववालों के साथ इधर-उधर चक्कर लगाया। कुछ दूर पर किसी आदमी को घसीटने के निशान मिले, उन्हें देखते हुए आगे बढ़ते चले गए। जब क़रीब तीन मील निकल गए होंगे, तब कुछ पता न लगा।"

वीरेश्वर ने ताज्जुब से पूछा—"आपने आगे कैसे खोज की?"

"खोज क्या करते? हारकर बैठ गए। सरदारजी ने चौकीदारों को बुलाकर इधर-उधर भेजा, ख़ुद भी घोड़ा दौड़ाते हुए भाग-दौड़

करते रहे। आगे जाकर उन्हें एक चाँदी का ज़ेवर मिला। उसे अपने साथ लाए, और लड़की के मा-बाप को दिखलाया। वे देखते ही फूट-फूटकर रोने लगे। सरदारजी ने पूछा—'क्या तुम्हारी लड़की का ही गहना है?' उन्होंने रोते-रोते कहा'—जी हाँ।' सरदारजी उसी की सीध में चलते चले गए। कहीं-कहीं उन्हें पूरा यक़ीन हो जाता था कि खोज मिल जायगा, और कहीं निराश हो जाते थे। उस रोज़ रात के बारह बजे तक यों ही घूमा किए। खाना भी लिया-दिया खाया। अगले दिन सबेरे रवाना हो गए। आस-पास के गाँववालों से खोज पूछते थे, लेकिन किसी को कुछ पता न था। क़रीब दोपहर के बारह बजे उन्हें एक चट्टान पर कपड़े की छोटी-छोटी कतरनें मिलीं। वह टीला गाँव से बीस मील की दूरी पर था। फ़ौरन् सरदारजी ने गाँव से लड़की के पिता को बुलवाया। उन्होंने कपड़े की चीरें पहचान लीं और कहा—'मेरी लड़की इसी रंग की सारी बाँधती थी।'

"सरदारजी अपने साथियों को लेकर आगे बढ़े, तो क्या देखते हैं कि उस टीले से थोड़ी दूर पर एक गड्ढे में औरत की लाश पड़ी हुई है। सरदारजी घोड़े से उतरकर, उसके पास झुककर देखने लगे। लाश को पड़े हुए कम वक़्त हुआ होगा, क्योंकि चेहरे की बनावट और रंग में कम फ़र्क़ था और हाथ-पैरों में नर्मी मौजूद थी। ज़मीन पर इधर-उधर बेकली से करवटें बदलने के निशान थे। सीधे हाथ की तरफ़ हिंदी में लिखा हुआ था—'निर्दयी मुसलमानो, तुम्हारा नाश हो जाय।' सरदारजी ने इन शब्दों को पढ़ा, और अपनी नोटबुक में दर्ज कर लिया। हाथ-पैरों में कई ज़ख़्म थे। पैरों में छालों के निशान थे, जिससे ज़ाहिर होता था कि बेचारी को इतनी दूर पैरों घसीटा गया है। ज़ेवर का बदन पर नाम तक न था। सारे कपड़े चिथड़े हो रहे थे। चेहरे पर भी ज़ख़्म थे। लड़की के मा-बाप ने रोना-चिल्लाना शुरू किया, और सरदारजी से प्रार्थना की कि वह उसे

दे दें। हम क्रिया-कर्म करेंगे। पुलिस के नियमानुसार सरदारजी लाश को डोली में रखवाकर थाने ले आए, और डॉक्टरी मुआइने के लिये भेजा।

"जिस समय सरदारजी लाश लेकर गाँव से चले थे, सारे गाँव में शोर मचा हुआ था। सबके मुँह से आह निकल रही थी। हर आदमी या औरत उसे देखने आया। लड़की के पिता ने सरदारजी को एक हज़ार रुपया दिया कि लाश छोड़ दें, परंतु उन्होंने एक न सुनी।

"लड़की की मा हाथ जोड़कर खड़ी हो गई और कहा—'सरदारजी, मेरी भवानी को यहीं छोड़ जाओ। भवानी लड़की का नाम था। क्या मा को इतना भी अधिकार नहीं कि अपने बच्चे को जला सके। क्यों इसकी मिट्टी ख़राब करते हो! दूर-दूर बदनामी होगी।' मगर सरदारजी और पुलिसवालों की तरह न थे, रिश्वत से दूर भागते थे, एक न सुनी।"

वीरेश्वर इस वारदात का हाल बड़े ग़ौर से सुन रहा था। उसने जमादार के कहने पर भी कि सरदारजी कुछ नहीं लेते, कुछ न कहा, और बोला—"बड़ी अजीब कहानी है। शीला का भी यही हाल न हुआ हो। अगर ऐसा हो भी गया होगा, तो बेचारी की हड्डी तक का पता न चलेगा। हाँ जमादारजी, डॉक्टरों ने मुआइने में क्या बतलाया। वे लोग तो लाश से भी पता लगा लेते हैं।"

जमादार ने ठंडी साँस भरी और कहा—"उनकी राय न पूछो। डॉक्टरों की रिपोर्ट पढ़ने से रोना आता है। जिसके घर के आदमी ऐसी रिपोर्ट सुनकर चुप हो जायँ, उनसे ज्यादा कायर दुनिया में कोई नहीं। रिपोर्ट क्या है, अजीब-सा हाल है। मुझे तो बतलाने में शर्म लगती है। न-जाने मा-बाप कैसे ज़िंदा हैं। अगर मुझे मालूम हो जाय कि यह काम उन लोगों का है, तो चाहे एक दफ़ा

फाँसी पर चढ़ जाऊँ, लेकिन बग़ैर ख़ून पिए न छोड़ूँ। मुसलमान की ज़ात है पाजी। अगर किसी से दुश्मनी है, तो इतना नीच काम करना ही क्या दुश्मनी निकालना है ? राम-राम !"

"आख़िर कहिए, मैं भी सुनूँ। आप तो ग़ुस्से से तेज़ हो गए।"

"ग़ुस्सा होने की बात ही है। डॉक्टर लिखते हैं कि यद्यपि लड़की के सारे शरीर पर ज़ख़्मों और चोटों के निशान हैं, मगर उसकी मौत उनसे नहीं हुई। उसकी मौत का कारण और ही है। और, हम यह कह सकते हैं कि औरत पर इससे ज़्यादा ज़ुल्म को जानवर या इंसान, जिसे अक़्ल या शरूर नहीं है, नहीं कर सकता। जो लोग उसे पकड़कर ले गए हैं, उन्होंने इसकी इज़्ज़त ही नहीं उतारी, बल्कि उसके शरीर के अंदरूनी हिस्सों को इस क़दर चोट पहुँची है, जिसके कारण मर जाना अवश्य है।"

वीरेश्वर ने सुनने को तो सुन लिया, मगर ग़ुस्से से भर गया। "इन मुसलमानों को हैवान कहना भी बुरा न होगा। जमादारजी, मेरे कहने की मंशा यह नहीं कि सारे मुसलमान एक-से होते हैं। जो लोग ऐसा करते हैं, उन्हें ईश्वर ही देखेगा। अभी इनमें से बादशाहत की बू नहीं गई है, और न इन्हें ऐसी औरतें मिली हैं, जो छाती पर छुरा लेकर चढ़ जायँ। देखिए, मुसलमानों को मैं यों बुरा कह रहा हूँ कि लड़की ने मरते-मरते अपने हाथ से 'मुसलमानो'-शब्द का नाम लिखकर हमें पता दिया। क्या ही अच्छा होता, यदि वह नाम भी लिख देती।"

जमादार ने आश्चर्य से कहा—"बेचारी को रात भर में नाम कैसे मालूम हो सकते थे ? इतना ही बहुत है। अब आप बतलाइए, क्या करना चाहिए ?"

"मैं क्या बताऊँ, हाज़िर हूँ। सरदारजी आ जायँ, उनसे पूछा जाय। मुझे इधर के बारे में कुछ नहीं मालूम, जैसा आप कहेंगे, वही करूँगा।"

"ठीक, पर आपका खर्च कहाँ से आवेगा ? पुलिस आपको नहीं देगी।"

"इस बात की कुछ परवा नहीं। मैं अपनी गुज़र-लायक़ काफ़ी कमा सकता हूँ। जब तक शीला के मरने-जीने का पता न लगा लूँगा, तब तक चैन न पड़ेगा। हाँ, पुलिस की सहायता की आवश्यकता है।"

सरदारजी कपड़े पहनकर कमरे में आ गए। उन्हें देखते ही वीरेश्वर ने कहा—"आपने बड़ी बहादुरी से खोज लगाया। अगर शीला के खोने पर आप होते, तो ज़रूर कुछ-न-कुछ पता लगता ही। मुसलमान साहब थे, उन्होंने मुसलमानों की रियायत की। ऐसा काम हर जगह मुसलमान ही किया करते हैं।"

सरदारजी ने वीरेश्वर से कहा—"आज मैं तुम्हें साहब के पास ले चलूँगा। वहाँ मुलाक़ात कराऊँगा, और इस मामले में तुम्हें पुलिस से काफ़ी मदद मिलेगी। साहब बड़े अच्छे आदमी हैं। उन्हें मुसलमानों के बारे में काफ़ी मालूम है। फिर जैसा कुछ होगा, किया जायगा। तुम तैयार हो न वीरेश्वर ?"

वीरेश्वर ने उठते हुए कहा—"हर वक़्त।"

प्रेम-प्रभाव

वीरेश्वर साहब से मिलने के बाद एक महीने तक उनके आज्ञा-नुसार काम करता रहा। जो कुछ उसे सीखना था, सीख लिया। जब कभी उसे साहब से मिलने की आवश्यकता पड़ती थी, चला जाता था। बाक़ी सारा दिन अपनी नियत की हुई जगह पर व्यतीत करता था। उसके खाने-पीने का प्रबंध सरदारजी ने अपने घर से कर दिया था। निर्द्वंद्व पड़ा रहता था। यदि कोई चिंता थी, तो शीला की। उसकी ख़ातिर सब कुछ करना स्वीकार था—अपने लिये नहीं, बल्कि दूसरों के लिये। वीरेश्वर को लोक-लाज की अधिक परवा न थी। परंतु कभी-कभी उसकी आँखें नीची हो जाती थीं, जब दूसरे लोग आपस में उसके सामने रास्ता चलते कहते हुए निकल जाते या इशारा कर देते थे कि यह वही शख़्स है, जिसे दो साल की सज़ा हुई थी। बस, इसी कलंक के टीके को दूर करने और समाज को उज्ज्वल बनाने के लिये इतनी मुसीबत अपने ऊपर ले ली थी। दूसरे, उसे यक़ीन था कि हो-न-हो यह काम या तो किसी मुसलमान का है, या लाला प्रभुदयाल ने शादी करने के लालच में किसी से ऐसी काररवाई कराई है। उसके विचार में दोनो बातें संभव भी थीं और असंभव भी। जी में इन विचारों के सिवा अगर किसी पर शुभा पहुँचता था, तो नसीबन पर। मगर सबूत कुछ नहीं था, ख़याल-ही-ख़याल था।

एक दिन साहब और सरदारजी अपने बँगले में बैठे हुए थे। विषय शीला का ही था। क्या देखते हैं कि सामने से एक आदमी गेरुए कपड़े पहने, हाथ में रुद्राक्ष, गले में शीशे के दानों की माला

पड़ी हुई, बाएँ हाथ में लोहे की चूड़ियाँ और बानों का बटा हुआ मोटा डोरा, तहमत बँधा हुआ, नंगे पैरों उनकी तरफ़ बढ़ा चला आ रहा है। पास आकर उसने 'अल्लाह .खुश रक्खे' की आवाज़ दी, और हाथ की चूड़ियाँ बजाते हुए कमर में लटका हुआ माँगने का खप्पर बाहर निकाला और कहा—"ख़ुदा बनाए रक्खे; हुज़ूर का इक़बाल रोशन रहे; फ़क़ीरों की दुआ क़बूल हो, कुछ खाने के लिये मिल जाय।

साहब ने आँख भरकर देखा ही होगा कि उन्होंने उसकी तरफ़ से मुँह फेर लिया। फ़क़ीर ने एक डंडा बग़ल से निकालकर गाना शुरू किया—"अल्लाह तेरे बच्चों की ख़ैर, तेरे कुनबे की ख़ैर, माई-बाबा की ख़ैर, छोटे बच्चों की ख़ैर, मेरा पल्ला-भर दे।" बीच में अपनी दुआ भी कहता जाता था। सरदारजी ने देखा, उसकी आँखें लाल हो रही थीं, मानो वह नशा पीता है या सुलफ़ा। जब गाना ख़त्म हो गया, तो वह 'सरकार की गद्दी बनी रहे' कह वहीं एक टाँग से खड़ा हो गया। साहब ने बहुतेरा डाटा, मगर उसकी ज़िद थी कि बग़ैर पैसा लिए वहाँ से न टले। दो-एक धक्के भी खाए, मगर वहीं खड़ा रहा। 'ख़ुदा सबका मालिक है', यही आवाज़ मुँह से निकलती थी। साहब और सरदारजी आपस में बातें करना चाहते थे, लेकिन फ़क़ीर की हठ ने उन्हें मजबूर कर दिया। इतना ही नहीं, उसने ज़ोर-ज़ोर से 'अल्लाह दे, अल्लाह दे' चिल्लाना शुरू कर दिया। आख़िर साहब ने तंग आकर एक पैसा उसके खप्पर में डाल दिया, और सरदारजी की तरफ़ मुख़ातिब होकर बोले—"मीरेश्वर बाबू अभी नहीं आए। वह तो वक़्त के बड़े पाबंद थे। आध घंटे से ज़्यादा इंतज़ार करते हुए हो गया।"

"मुमकिन है, कुछ काम लग गया हो, रुकनेवाला नहीं है, उसके तन-मन से लगी हुई है। शीला का जब तक पता न लगा लेगा, आराम से न सोएगा। आदमी नेक है।"

"सरदारजी, तुम्हें पूरा यक़ीन है कि शीला को वीरेश्वर ने नहीं भगाया ?"

"नहीं, वीरेश्वर ऐसा काम कभी नहीं कर सकता। मुझे पूरा विश्वास है। आप इस बात से इतमीनान रक्खें।"

साहब सरदारजी की बातों पर यक़ीन और भरोसा करता था। नया ही विलायत से आया था। उसे हिंदोस्तान के बारे में जानना तो अलग, ज़िले के बारे में बहुत कम मालूम था। उर्दू ज़बान भी यहीं आकर सीखी थी। सरदारजी की मदद से उसने अच्छे-अच्छे मामलों के पते लगा लिए थे, और उसकी शोहरत दूर-दूर हो गई थी। इसलिये जो कुछ सरदारजी कहते थे, उनकी बात मान लेता था।

इन दोनो में बातें हो ही रही थीं कि फ़क़ीर तुरंत ही एक ख़ाली कुर्सी पर आ बैठा, और साहब की तरफ़ मुस्किराकर सरदारजी को ग़ौर से देखने लगा। दोनो हैरान रह गए, और एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। फ़क़ीर से न रहा गया, वह बोला—"हुज़ूर, आपका वीरेश्वर मैं ही हूँ। हुक्म कीजिए, तैयार हूँ।"

साहब ने बड़े ग़ौर से देखा, और सरदारजी की तरफ़ मुख़ातिब होकर कहा—"वाह, ख़ूब! फ़क़ीर बनना तो वीरेश्वर को ही आता है। अब तुम हमारी ख़ुफ़िया पुलिस का काम कर सकते हो। नाम क्या रक्खा है, साईंजी ?"

"मैंने अपना नाम निज़ामी रक्खा है। आप मुझे निज़ाम या निज़ामी कहकर पुकारा करें।"

"नाम तो ख़ूब है। वेश भी अच्छा रहा। अब तुम्हें अपने काम पर जाना पड़ेगा। उस इलाक़े के थानेदार को हम लिख चुके हैं, किसी तरह की तकलीफ़ न होगी। एक पास दिए देते हैं, जहाँ ज़रूरत पड़े, दिखला देना। पुलिस तुम्हारी मदद करेगी। उस जगह का नक़शा भी ले जाओ। अपना फ़क़ीराना बिस्तर साथ रखना।"

यह कहकर साहब ने ख़र्च के लिये तीस रुपए निकालकर दिए और वीरेश्वर वहाँ से सलाम कर कोतवाली आ गया।

रात को वीरेश्वर के मन में अनेक प्रकार के विचार आने लगे। कहाँ बी० ए० पास और कहाँ मुसलमानी वेश में खुफ़िया पुलिस का काम करना! यदि शीला न मिली, तो लोग समझेंगे कि दुनिया को धोका देने के लिये सारा ढोंग रचा। अगर मिल गई, तो लोग कहेंगे कि ऐसा क्या लालच था, जिसकी चाट में मारा-मारा फिरा। किसी का मुँह थोड़े ही बंद किया जाता है। इन्हीं विचारों की पूर्ति और उधेड़-बुन में रात काटी। बग़ैर किसी से कहे-सुने वहाँ से चल पड़ा, और उसी गाँव में, जहाँ से भवानी ग़ायब हुई थी, जाकर डेरा डाल दिया। उस गाँव में पहुँचने से पहले उसने मस्ता बाबा का रूप धारण किया। केवल एक तहमत बँधा हुआ था। गले में बड़े-बड़े काँच के मूँगों की माला थी। सर घुटा हुआ और शरीर पर एक फटा कंबल था।

पहले दिन एक टूटी हुई मस्जिद में पड़ रहा। किसी को ख़बर भी न हुई। दूसरे दिन मुल्लाजी से भेंट हुई। बातचीत करने पर मुल्लाजी को पूरा विश्वास हो गया कि मस्ता बाबा बड़े पहुँचे हुए फ़क़ीर हैं। उनकी हर तरह से ख़ातिर की, बैठने के लिये मस्जिद की टूटी हुई कोठरी से एक फटी हुई चटाई लाकर बिछा दी। मुँह-हाथ धोने के लिये मिट्टी के बर्तन में पानी भरकर रख दिया। ख़ुद ज़मीन पर बैठे, और दोनो हाथ बाँधे सवाल किया—"बाबा, कहाँ से आ रहे हैं?"

"ख़ुदा की दुनिया से।"

"कहाँ जाने का इरादा है?"

"ख़ुदा के घर।" कहकर, मुँह से सीटी बजाकर आसमान की तरफ़ देखना शुरू कर दिया।

मुल्लाजी ने बहुत हिम्मत बाँधकर कहा—"आपको किसी चीज़ की ज़रूरत है?"

"ज़रूरत दुनिया में इंसान को पड़ती है। मस्ता बाबा कुछ नहीं चाहते। तंग मत करो।"

"बंदे के लिये कोई काम?"

"ख़ुदा की इबादत!" मस्ता बाबा अपना कंबल उठा चलने को तैयार हो गए।

ज्यों ही मुल्लाजी ने देखा, वह दबे पाँव मस्जिद से बाहर निकल आए, और गाँव के सारे आदमियों से मस्ताशाह के आने का ढिंढोरा पीट दिया। गाँव के आदमी एक-एक करके मस्जिद की तरफ़ आने लगे। किसी का इतना साहस न होता था कि अंदर जाय। मस्ताशाह अपने ख़याल में मस्त थे। आसमान की तरफ़ देखना, सीटी बजाना, फूँक मारना, ख़ुद बातें करना, ज़मीन से राख उठाकर फेंकना लगातार जारी रक्खा। लोग मस्ताशाह के मुँह की तरफ़ देख रहे थे। दो-चार सट्टे के शौक़ीन हिम्मत करके पहुँच गए, और सुलफ़े की चिलम भरी, मस्ताशाह को पिलाई, और जब अपने ख़याल में मस्त हो गए, तो उन्होंने पूछा—"बाबा, क्या खुलेगा?"

मस्ताशाह ने कह दिया—"पूरा चाँद नहीं निकला है।" बस, सुनते ही उन्होंने अपना हिसाब लगाना शुरू कर दिया। पूरे चाँद के १५ और नहीं निकला है के ८ अर्थात् वह तो वहाँ से उठकर चल दिए। औरतों का जमघट मर्दों से ज़्यादा था। किसी को औलाद, किसी को धन, किसी को कुछ माँगना था। अपनी-अपनी मुरादें लेकर पूछने गईं, और शाहजी ने सबका जवाब दिया। शाम होने को हो गई थी। मस्ताशाह से खाने की ज़िद की गई। मस्ताशाह ने जवाब दिया—"खाना ख़ुदा देगा। हम खाना ऐसी जगह

नहीं खायँगे, जहाँ लोग औरतों को इलाक़ करें। काफ़िर .खुदा को भूल गए।" सीटी ज्यों ही ज़ोर से बजाई, और हाथ का इशारा देकर लोगों से पीछे हटने को कहा, सब मूर्ति की तरह खड़े-के-खड़े रह गए। मस्ताशाह ने फिर .खुद ही सवाल-जवाब किए—.खुदा कहाँ ले चलेगा? वहाँ, अच्छा चलते हैं, ठहरो। बंदा कौन? जो .खुदा को याद करे। इस सवाल का जवाब देकर तुरंत ही लोगों की तरफ़ आँख फाड़कर देखना शुरू कर दिया, और आहिस्ता से कंबल बग़ल में दबा गाँव से बाहर, एक क़बर के पास, बिस्तर लगा दिया। लोग वहाँ भी पहुँचे। खाना ज़रूरत से ज़्यादा पहुँच गया। जो शाहजी के पास खाना ले जाता, उसे हाथ से छूकर कह देते—".खुदा के बंदों को खिलाओ।" लोग बड़ी श्रद्धा से खाते थे। शाहजी को भूख लग रही थी, मगर पाखंड रचना था, वह .खूब रचा।

शाहजी को रहते हुए आठ दिन हो गए। आस-पास के गाँव के आदमी दर्शन के लिये आने लगे। यदि कोई पूछता—"शाहजी, कुछ ज़रूरत है?" तो जवाब में कह देते—"बंदे प्यासे लौट जाते हैं, बंदों को छाया नहीं मिलती, बंदे रात को सो नहीं सकते।" इन जवाबों को सुनकर लोगों ने कुआँ भी खुदवा दिया, पेड़ लगवा दिए, झोपड़ी छवा दी, बैठने के लिये चारपाई भेज दी। थोड़े ही समय में जंगल में मंगल हो गया।

शाहजी को पूरा महीना न गुज़रा होगा कि सरदारजी ने कई आदमी यात्रियों के वेश में वहाँ भेजे, जिन्होंने शाहजी की बड़ी प्रशंसा की, और कहा कि शाहजी की मानता दुनिया-भर में मानी जाती है। शाहजी सबका भला करते हैं। हम लोग तो सौ कोस से शाहजी का नाम सुनकर आए हैं। इन आए हुए आदमियों ने शाहजी का इतना आदर-सत्कार किया कि लोग हैरान रह गए, और उसी वक़्त से कुछ आदमी तो जब कभी ख़ाली होते, उनकी ख़िदमत के लिये आ

बैठते। इन्हीं आदमियों में से कई रुपए और अशरफ़ी देने लगे, मगर शाहजी ने दूर फेंक दिया और मुँह मोड़कर बैठ गए। ".खुदा रुपयों से मिलता है, अरे झूठे बंदे।"

मस्ताशाह दूर-दूर तक पुजने लगे। बुरे-भले, ईमानदार-बेईमान, झूठे-सच्चे, अमीर-ग़रीब सब तरह के आदमी वहाँ आते, रात को ठहरते और मस्ताशाह अपनी चटाई पर मस्त पड़े सोया करते, या बातें किया करते। सबेरे-शाम इधर-उधर टहलने चले जाते। एक दिन सबेरे उठकर सीधे उसी तरफ़, जहाँ भवानी की दुर्दशा और मृत्यु हुई थी, जा पहुँचे। वहाँ से चारो तरफ़ देखा-भाला कि कहीं पता चले, मगर आस-पास न कोई गाँव, न पेड़, सिवा चट्टानों के कुछ न दिखलाई पड़ता था। रेतीले टीले अधिकतर नज़र आते थे। हारे-थके थे ही, मस्ताशाह रात को वहीं सो गए, और अगले दिन दोपहर को आँख खुली।

मस्ताशाह की एक दिन और एक रात की ग़ैरहाज़िरी से लोग बड़े व्याकुल हुए। उन्होंने बहुतेरा ढूँढ़ा, कहीं पता न चला। रात को भी उनकी तलाश में रहे। ज़रा-सी आहट होती, तो समझते कि मस्ताशाह आ रहे हैं। अगले दिन लोगों से न रहा गया। गाँव के नौजवान चारो तरफ़ देखने के लिये फैल गए। क्या देखते हैं कि मस्ताशाह लौटकर न-जाने कहाँ से आ रहे हैं। लोगों ने पूछा—"आप कहाँ गए थे?"

".खुदा के घर।"

"साईंजी, हम लोग रात-भर परेशान रहे। बड़ी फ़िक्र थी, कोई बात अक़्ल में ही न आती थी, आपकी तलाश में निकल पड़े।"

"बंदे अंधे मस्ताशाह की याद में चल दिए, और मस्ताशाह .खुदा की याद में चल दिया। बंदा .खुदा की याद में क्यों नहीं चलता। 'जिसका भजे, तो तिसका होई।' बंदा पागल।" शाहजी

सीटी बजाते अपनी झोपड़ियों की तरफ़ चल दिए। लोगों ने उनके वाक्य के बड़े गूढ़ अर्थ लगाए—"शाहजी बिलकुल ठीक फ़रमाते हैं, अगर बंदा ख़ुदा की याद में रहे, तो दीन-दुनिया दोनो सँभल जायँ।" दूसरे ने कहा—"ये बातें तभी मालूम होती हैं, जब ख़ुदा-रसीदा लोगों की सोहबत की जाय। शाहजी से मुलाक़ात न होती, तो क्योंकर पता लगता।" तीसरे ने कहा—"तभी तो ऐसे लोग पुजते हैं। देखा नहीं, कितनी दूर से आदमी ज़ियारत करने आए, रुपया देने लगे, शाहजी ने मिट्टी की तरह फेंक दिया।" एक और बोला—"दुनिया उनके लिये हेच है। उनके लिये ज़र और मिट्टी बराबर है।" ग़र्ज़ यह कि सब अपना-अपना मंतक़ लड़ाते झोपड़ियों पर पहुँचे, और मस्ताशाह के सामने जा बैठे।

मस्ताशाह की अनुपस्थिति का कारण सभों ने पूछा, लेकिन वह अपनी बात कहने में मस्त रहे। किसी की कुछ न सुनी। बस, उनकी ज़िंदगी का हाल जब तक वहाँ रहे, यही रहा। लोगों की भक्ति अत्यंत हो गई थी। उनके पाखंड का प्रचार इतना हुआ कि भेंट में रुपए आने लगे। एक नया मस्ताशाह का त्योहार बन गया, जिसकी पूजा होने लगी। किसी को हारी, बीमारी, तकलीफ़ या और प्रकार का दुःख हो, मस्ताशाह अपनी फूँक से ही अच्छा कर देते थे। यही ढोंग अपने कार्य सिद्ध करने का वीरेश्वर ने अच्छा समझा, और सफलता भी देखी। कभी अपने मन में सोचता था कि भारतवर्ष की जातियाँ किस तरह पाखंडियों के बहकाए में आ जाती हैं। इसी प्रकार मुसलमान ख़ूब बहकाते हैं, और अपना मतलब निकालते हैं।

पापी हृदय

संसार में कितने ऐसे मनुष्य होंगे, जो निष्काम और निष्फल जीवन व्यतीत करते हों। कितने ऐसे होंगे, जिन्हें अपने लाभ के साथ दूसरों के लाभ का भी ख़याल रखना पड़ता हो। कितने ऐसे होंगे, जिन्हें अपने लाभ के अतिरिक्त दूसरों के लाभ से सहानुभूति हो, और कितने ऐसे होंगे, जो अपने लाभ को मुख्य रखकर, चाहे दूसरे लोगों की हानि ही हो, किसी दूसरी बात की परवा करते हों। अधिकतर मनुष्य स्वार्थी पाया जाता है। लाला प्रभुदयाल ऐसे ही थे। अपना स्वार्थ सिद्ध करना और दूसरों को हानि पहुँचाना उन्होंने अपनी आयु का खास आदर्श रख छोड़ा था।

भागमल की शादी होने से लोगों में सनसनी फैल ही रही थी कि संबंध उचित घर से नहीं हुआ। जिस हिंदू-घर की एक कुँआरी लड़की भाग जाय, उस घर में कलंक का टीका लग जाता है। लाला प्रभुदयाल इस बात को अच्छी तरह जानते थे। यद्यपि ऐसा करने से बहुत-से रिश्तेदार टूटे, परंतु उनके विचार में तब भी लाभ था। कला लाला दीनदयाल की लड़की थी, वह भी इकलौती। शीला के मिल जाने की आशा मा-बाप को मृत्यु-शय्या तक लगी रहे, और प्राण भी उसी का नाम लेते हुए निकलें, परंतु बाहर के आदमी तो हाथ धो बैठे हैं। लाला प्रभुदयाल ने यदि सोच लिया कि शीला न मिलेगी, तो कुछ अनुचित भी न किया। बस, कला उनकी बहू, भागमल लाला दीनदयाल का दामाद, संपत्ति किसी के पास क्यों न रहे, हर दशा में धन लाला प्रभुदयाल का था। इसी विचार से उन्होंने यह शादी की थी।

भागमल के तंग रखने का कारण भी यही था कि वह अपने ससुर के यहाँ जाय और रुपया माँगे। एक दिन कला ने पत्र लिखकर भागमल के हाथ मँगवा भी लिए। भागमल ने पचास रुपयों में से केवल दस ही दिए, और कह दिया—"बाक़ी मेरे पास जमा हैं। ज़रूरत पड़ने पर ले लेना।" चालीस रुपए मिलने पर भागमल ने ख़ूब जुआ खेला, और कला से कहा—"अपने पिता से और रुपए मँगवाओ, हमें बहुत ज़रूरत है।"

कला चुप हो गई। उसने कोई उत्तर न दिया, और अपने काम में लगी रही। भागमल के कई बार बुलाने पर उसने कहा—"कहिए, क्यों ज़रूरत है?"

"एक काम आ लगा है, यदि रुपए न मिले, तो मेरी जान आफ़त में आ जायगी। किसी तरह रुपए मँगवा दो।"

"चालीस रुपयों का क्या किया? मैं तो तुमसे माँगने को थी, उलटे आप माँग बैठे।" कला प्रश्न कर अपने उस पति की तरफ़ देखने लगी, जिसमें प्रेम का अंश तक न था।

भागमल से कुछ जवाब देते न बन पड़ा। ग़ुस्से में बोला—"तुम चालीस रुपए का हिसाब माँगने लगीं। बाहर हज़ार काम होते हैं। व्यावहारिक संबंध तुम क्या जानो? यह तुम्हें अच्छी तरह मालूम है कि पिता एक पैसा तक नहीं देते। किसी तरह गुज़ारा करने की भी फ़िक्र होनी चाहिए। मैंने साझे में एक दूकान खोली है, उसमें लगाने को भी तो चाहिए।"

"अपने पिता से माँगना चाहिए। ईश्वर की कृपा से ससुरजी के पास काफ़ी धन है। आप उनके इकलौते पुत्र हैं, यदि आपको भी न दें, तो और किसे देंगे?"

भागमल की बुद्धि इतनी तीव्र न थी, जो अपनी स्त्री की बात समझ लेता। बजाय इसके कि कुछ नसीहत लेता, उसे क्रोध

आ गया। कमज़ोरों पर क्रोध आना आसान-सी बात है। उसने कला को कड़े शब्द कहे, और इतना ही नहीं, मारने के लिये तैयार हो गया। बेचारी खड़ी-खड़ी टकटकी बाँधे देखती रही। केवल धमकाने के ही डर से उसकी आँखों से आँसू टप-टप टपक रहे थे। एक अबला स्त्री की तरह, दीवार का सहारा लिए, तिरछी गर्दन किए खड़ी हो गई, और आँचल से मुँह ढक लिया।

भागमल यदि मनुष्य होता, या उसके हृदय में अपनी स्त्री के लिये प्रेम होता, तो कभी न पीटता। उसने आख़िर हाथ छोड़ ही दिया, और ज़ोर से घूँसे लगाए। कला ने बहुतेरा चाहा कि मन-ही-मन रोए, आवाज़ न होने दे, लेकिन उसकी सास घूँसों की आवाज़ सुनकर आ गई, और खड़ी-खड़ी भागमल का क्रोधित चेहरा और कला का रोना देखती रहीं। भागमल ने कड़ी आवाज़ से कहा—"यह समझती होगी कि सास आकर बचा लेगी। तुझ-जैसी बहू उसके लिये सैकड़ों मिल जायँगी, अगर भागमल इन्हीं हाथों से मारता-पीटता भी रहे। पढ़ी हुई क्या है, बराबरी करती है, और किसी को आँट में नहीं लाती।"

कला की सास सुनकर कानों पर हाथ रखने लगीं। "बेटा भागमल, क्या हुआ? मुझसे कह देता। तूने अपने हाथों को क्यों तकलीफ़ दी। पीटने से स्त्री बेहया हो जाती है। जिसने आँखों-आँखों में बात नहीं मानी, वह पिटकर मान सकती है। अच्छा, बात क्या थी?"

"कुछ हो, तो बताऊँ। मैं बाहर से आया, पानी पीने के लिये माँगा। अपना दुखड़ा ले बैठी। पानी तो पिलाना भूल गई, और सास-ससुर की बुराई करने में एक की सौ बातें जड़ दीं। अभी दो साल हुए होंगे, अलग रहने की सूझ गई।"

"क्या हर्ज है बेटा! दोनो अलग रहो। हम बुडढे-बुढ़िया अपनी करेंगे और खायँगे। इतना बड़ा इसी के लिये किया था? ऐसा ही

अलग होने का शौक़ था, तो बाप से अलग महल बनवा लेती। कुछ गाँठ में भी है, जिससे पेट भरे जायँगे। ससुराल का गहना है, गिरवी रखना और खाना। ऐसी बहू का क्या एतबार?"

भागमल को अपनी मा की बातें सुनकर और ताव आ गया। उसने मा के सामने एक लात जमा दी। मा खड़ी हुई देख रही थी। नीचे झुककर उसने कला का सारा ज़ेवर, जो वह पहने हुए थी, उतार लिया, और संदूक खोलकर ज़ेवर का डब्बा निकाल लिया। मा-बेटा कोठरी से निकल आए, और कुंडी लगा ताला डाल दिया। मा के पास ज़ेवर रख, सोने की दो चीज़ ले भागमल रोज़ाना की तरह बाज़ार चला गया। ज़ेवर गिरवी रख अपने मित्रों-सहित ख़ूब जुआ खेला, और शाम को घर आकर चुपचाप सो गया। खाना भी नहीं खाया। मा ने ज़िद की, बच्चे की तरह ख़ुशामद की, लेकिन भागमल ने नहीं खाया। उसके पिता ने भी कहा, आख़िर यही परिणाम निकला कि जब से बहू आई है, उसकी ज़िंदगी ख़राब हो गई। लाला प्रभुदयाल भी अपनी ग़लती पर पछताने लगे, और बोले—"मुझे ऐसा पता होता कि बहू ऐसी निकलेगी, तो कभी ब्याह न करता। उसने नाक में दम कर दिया। मिसरानी को लड़कर निकाल दिया। दूना ख़र्च बढ़ गया। एक दो वक़्त रोटी, चौका-बर्तन और ज़रा-सा पीस लेती है, उस पर तान तोड़ती है। भागमल की मा, तुम ठीक कहती थीं, लेकिन मैं क़सम खाकर कहता हूँ, मुझे इसकी बहू के ऐसे ढंग मालूम न थे।"

भागमल की मा बड़ी प्रसन्न हुई, और कहा—"हमारी बात झूठ जानते थे। औरतों की बात औरत ही अच्छा जानती है। सच पूछो, तो तुमने ही सिर चढ़ाया। मेरी डाट में रहती, तो क्या भागमल को पानी लाने से मना कर देती। तुम्हीं कहते थे, बहू, बस, आज रोटी खाई है।"

लाला प्रभुदयाल की स्त्री के कटाक्ष ऐसे थे कि सेठजी को चुप ही होना पड़ा, और अपनी स्त्री की हाँ में हाँ मिलानी पड़ी। दोनो एक ज़बान हो गए।

कला को कोठरी में बंद हुए दस घंटे से अधिक हो गए। न खाना, न पानी, न पाखाने जाना और न सोना। पिटने के बाद थोड़ी देर तक बेहोशी में पड़ी रही। मन में इतनी सामर्थ्य न रह गई थी, जो बुरा-भला परिणाम निकाल लेती। आँखें ढके आँसू बहाती रही, और न-जाने कब और कितनी देर में नींद की गोद में पड़कर सो गई। अँधेरी कोठरी में उसे यह ज्ञात होना कि शाम है या रात, असंभव है। आँख खुल गई। उठकर बैठी, और किवाड़े खोलने की चेष्टा की। साँकल खींचकर ज़ोर लगाया, किंतु किवाड़े बाहर से बंद थे। हारकर ज़मीन पर ही बैठना स्वीकार किया। मन-ही-मन अपने पति की कठोरता और मिथ्या बोलने की आलोचना कर रही थी। कैसा पापी निकला! बात कुछ और ही थी, और मा से दूसरे ढंग से कहा। अँधेरे में हाथ पर हाथ धरकर जाड़े के कारण बैठना उचित समझा। ज्यों ही हाथ नंगे मालूम हुए, फूट-फूटकर रोने लगी। आँसू पोछते में कानों की बालियाँ न पा और भी अधिक रोने लगी। गले की सारी चीज़ें खसोटकर ले जाने में उसकी गर्दन में दो-तीन खुरसटें पड़ गई थीं, जिनमें जलन हो रही थी। वहाँ पर हाथ फेरने से उसे अपनी आयु पर धिक्कार कहना पड़ा। क्या यही दिन देखने के लिये मैं पैदा हुई, बड़ी हुई, और विवाहित होकर यहाँ आई। रात-भर इसी तरह गुज़री। सबेरे किवाड़े खुले। कला अपना सिर घुटनों पर रक्खे बैठी थी। आवाज़ सुनकर चौकन्नी हो गई, और सास को देखकर पैर लगने के लिये आगे बढ़ी। सास ने तुरंत ही अपने पैर पीछे हटा लिए, और बाहर आ खड़ी हुई।

कला की स्थिति किवाड़ खुलने से विचित्र हो गई। जिस रूठे का

कोई मनानेवाला न हो, रोते को धीर बँधानेवाला न हो, डूबते को कोई सहारा देनेवाला न हो, पतित का उपकार करनेवाला न हो, दुर्बल की रक्षा करनेवाला न हो, ऐसे जीव का संसार में जीवित रहना धिक्कार है। कला की स्थिति और भी बुरी थी। उठना चाहती थी, किंतु किसके कहने से ? घर का काम-काज करने की इच्छा थी, किंतु किसकी आज्ञा से ? अपनी भूख-प्यास का तो ज़िक्र ही क्या था ? उठकर चौखट तक आई, मगर फिर हट गई। सामने की ओर देखा, तो किसी को न देख सकी। अंत में, जी कठोर करके, लड़खड़ाती हुई बाहर आई। पाख़ाने गई, मुँह-हाथ धोया, और काम-काज में लग गई। अपने मन में सोचा, मुझ-जैसी बेहया भी कोई होगी, जो पिटे, मार खाए, अत्याचार सहे, और फिर काम करने लग जाय। सुना करती थी कि ग़ुलामों की ऐसी हालत होती है। सरकार जिन मज़दूरों को दूसरे मुल्कों में बसाने के लिये ले जाती है, उनके साथ कुत्तों का-सा व्यवहार होता है, मगर आज स्वयं अपनी आँखों देख रही हूँ। जब घर के संबंधी ही ऐसा करें, तो बाहरवालों का क्या दोष ? सच है, अबला का संसार में कोई नहीं। यदि आज मुझमें शक्ति होती, तो क्या मेरा पति इस तरह पीट जाता, सास ऐसे शब्द मुँह से निकाल जातीं। गृहस्थी हम हिंदुओं के लिये विचित्र समस्या है। बेचारी बहू ग़ुलामों से बुरी ! धन्य है पश्चिमीय सभ्यता को, जहाँ स्त्रियों का आदर-सत्कार होता है। सुना करती थी कि अपनी पुरानी सभ्यता के अनुसार स्त्रियाँ देवी समझी जाती थीं। आख़िर यह दशा क्यों हुई ? या तो स्त्रियाँ पतित हुईं या मर्द। स्त्रियों के पतन का कारण पुरुष हैं, क्योंकि स्त्रियों के अधिकार चाहे जितने क्यों न रहे हों, वे सदा पुरुषों के अधीन रहीं, जिसका परिणाम मैं आज देख रही हूँ, और मुझसे पहले लाखों ने देखा होगा।

कला दुर-दुर फिर-फिर खाती हुई काम करती रही। दोपहर को

खाना भी खाया। आज घर में कोई भी उससे नहीं बोला। सास से कई दफ़ा पूछा भी था कि क्या दाल बनेगी, लेकिन मुँह फेर लेती थीं। घर में वह अभ्यागत की तरह थी। जब पति ही प्रेम न करे, तो संसार में कौन सहायक हो सकता है? संसार की सारी संपत्ति व्यर्थ है, यदि स्त्री का पति उससे प्रेम न करे। स्त्री का सुहाग, स्त्री का जीवन, स्त्री का शृंगार, स्त्री की संपत्ति उसके पति का मीठा बोलना, प्रेम करना और उसकी आपत्ति में सहायता देना है। कला इन सारी बातों से रहित थी। केवल मा-बाप के आधार पर अपनी आयु रख रही थी। उसने अपनी संदूक़ से काग़ज़ निकाला, दवात-क़लम न मिलने पर पेंसिल की खोज की, वह भी न मिली। उसे इतना साहस न था कि अपने ससुर से दवात-क़लम माँग ले, और माँगती भी किसके सहारे? सास मुँह कुप्पा किए अलग बैठी थीं। सोच में पड़ गई, और अंत में उसे याद आया कि धोती रँगने के लिये गुलाबी पुड़िया मँगाई थी, वह रक्खी है। अधिक प्रसन्न हुई। एक कटोरी में रँग घोलकर सोहनी से सींक निकाली, और अपने माता-पिता को पत्र लिखा। हाल वही, जो कला की स्थिति में सब कोई लिख सकता था। पत्र लिखकर उसकी तह कर आले में रख दिया।

शाम का समय निकट था। कला को अपने काम की चिंता पड़ गई। वही एक धंधा, उसी से काम। काम करती जाती, और सोचती जाती कि पत्र कैसे भिजवाऊँ? पड़ोस में किसी को नहीं जानती। डाकखाने में भी नहीं डाल सकती। लेटर-बक्स घर के दरवाज़े के सामने है, वहाँ जाना मेरे लिये पाप है। यदि यों ही पिटती रही, और मा-बाप को पता न लगा, तो एक दिन बेमौत यहीं मरना पड़ेगा। कला को अपनी अधीनता पर बड़ा क्रोध आया, लेकिन करती क्या, पराए-वश थी। अंदर-ही-अंदर रक्त उबलता और ठंडा हो जाता था। रसोई चढ़ाई, आटा गूँधा, मसाला पीस रही थी कि मिसरानी

आ गई, और सास के पास बैठकर बातें करने लगीं। बात वही कला के कोठरी में बंद होने की थी। सास ने यह नहीं कहा कि भागमल ने पीटा है। कला चुप सुन रही थी। मिसरानी ने स्वयं ही कहा—"कल कला की मा ने बुलाया था, बड़ी खातिर की। पूछ रही थीं कि बेटी कैसी है ? जितनी देर मुझसे बातें कीं, रोती रहीं। सेठानीजी, भेज क्यों नहीं देती हो। बेटी आती-जाती ही अच्छी रहती है। गौने पर इतने दिन कौन-सी बहू ठहरती है।"

"मैं क्या जानूँ ? उसका मालिक जाने, ससुर जाने, मुझसे तो तुम्हारे सामने ही इसके ससुर अकटी-बकटी कहते थे। मैं अपनी टाँग बीच में क्यों लड़ाऊँ ? सेठजी से कहना।"

मिसरानी कला के पास सरककर जा बैठीं। उसका घूँघट उठाकर बात करना चाहतीं थीं कि क्या देखती हैं कि कला रो रही है। मिसरानी ने धीरे से पूछा—"क्या बात है ?"

कला खामोश रही।

मिसरानी ने कई दफ़ा पूछा, किंतु कला ने मुँह से एक शब्द भी न निकाला। वहाँ से उठकर चल दी, और पत्र लाकर मिसरानी को दे दिया। सास के कान उधर ही लगे थे, यद्यपि मुँह दूसरी तरफ़ था, इसलिये वह पत्र न देख सकीं। मिसरानी पत्र गाँठ में बाँध, यह कहती हुई कि रोटी करने जाना है, खड़ी हो गई।

सेठानी ने पूछा—"आजकल कहाँ करती हो ?"

"कला की मा के यहाँ। जिस दिन से तुम्हारे घर की रोटी छोड़ी है, उन्हीं के वहाँ करती हूँ। परमात्मा की दया से तनख्वाह आपके यहाँ से ज्यादा मिलती है।"

"ऐसा तो कहोगी ही। 'जिस घर देखी तवा-परात, उधर बजाई सारी रात।' भागमल की सास से कह देना कि बहू ठीक ढंग से नहीं रहती है। जब से आई है, मेरे भागमल को रोटी तक नहीं लगती।"

"कह दूँगी सेठानी, विदा का छेता रख दो, ले जायँगे। अच्छा, फिर आऊँगी।"

मिसरानी चली गई। वास्तव में कला की मा ने हाल पूछने के लिये भेजा था। कला को भी उत्तम अवसर मिला। मिसरानी ने लाला दीनदयाल से सेठजी की कुल चालाकियाँ कह डाली थीं कि वह किस प्रकार कला से सारे दिन काम कराते हैं, और यह भी कह दिया था कि कला ऐसे कंजूस के घर लायक़ नहीं। पत्र ले जाकर उसी वक्त कला की मा को न दिया, बल्कि आग सुलगाकर, तरकारी छौंककर, आटा गूँधने बैठ गई। लाला दीनदयाल ने कचहरी से लौटकर पूछा—"कहो मिसरानी, गई थीं?"

"जी सरकार।"

"क्या हाल है?"

"गुज़र कर रही है। उसकी सास दुखड़ा पीट रही थी कि कला ने भागमल के साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया। जितनी देर बैठी रही, सास कला की कटी पर ही थी।"

"कला क्या कर रही थी?" लाला दीनदयाल प्रश्न करके खाट पर बैठकर अपना कोट-पाजामा उतारने लगे।

"कला मसाला पास रही और रो रही थी। उसने एक खत दिया है, मेरे पल्ले में बँधा है। वह बात करना चाहती थी, लेकिन उसकी सास छाती पर जम की तरह वहीं बैठी हुई थी।"

लाला दीनदयाल चौके की चौखट पर खड़े हुए बोले—"लाओ, खत कहाँ है?" उन्होंने अपने जूते नहीं उतारे थे, इस कारण चौके के अंदर न जा सके।

मिसरानी ने पल्ला आगे सरकाकर आवाज़ दी—"कला की मा! कला की मा! ज़रा पल्ले से चिट्ठी खोल देना।"

आवाज़ सुनकर वह दौड़ी आई। चिट्ठी खोलकर दे दी। लाला

दीनदयाल पढ़ने लगे। पहला वर्क़ उलटने भी न पाए थे कि उनकी आँखों से आँसू निकल पड़े। बहुतेरा रोकना चाहा, किंतु ज्यों-ज्यों आगे पढ़ते, रोना आता था। आख़िर में लिखा हुआ था कि पिताजी, यदि आप ज़िंदा देखना चाहते हैं, तो बुला लें, नहीं तो ऐसी दशा में एक दिन मरने की सूचना सुन लोगे। लाला दीनदयाल ख़त हाथ में लिए हुए खाट पर आ बैठे। उनकी स्त्री पंखा हाथ में लेकर खाट के सिरहाने आ खड़ी हुईं, और हवा करने लगीं। लाला दीनदयाल खाट पर कोट का तकिया लगाकर लेट गए, और उनकी स्त्री ने भी पीढ़ा खींचकर सिरहाने ही सरका लिया, और बैठ गईं। दोनो थोड़ी देर तक चुप रहे, आख़िर कला की मा से रहा न गया, और बोलीं—"कला ने ख़त में क्या लिखा है?"

"लिखती क्या, वही अपनी मुसीबत। तुमसे कहा था कि वहाँ विवाह न करो। कला को बड़ी कठिनाइयाँ सहनी पड़ेंगी। और, वही अब सामने आ रहा है।"

"कुछ ख़त में भी लिखा है कि अपने ही राग गा रहे हो?"

लालाजी ने सारा ख़त पढ़कर सुना दिया, और बोले—"अब क्या करना चाहिए? मेरी राय है, अभी सेठजी से मिलूँ, और कला की रुख़सत तय कर आऊँ।"

"खाना खाकर जाना। मिसरानी तरकारी बना चुकी है। मेरी तरफ़ से भी कह देना कि ज़रूर-ज़रूर रुख़सत कर दें।"

लाला दीनदयाल बिना खाए, जैसे कचहरी से लौटे थे, उसी तरह कोट-पाजामा पहन, छाता हाथ में ले सीधे उनके घर पहुँचे। सेठजी चौकी पर बैठे हुए थे। माला हाथ में थी। राम-राम होने के बाद असल बात छिड़ी। सेठजी ने बहू की बुराई करना आरंभ कर दी। लाला दीनदयाल चुप सुन रहे थे, और 'जी हाँ' कहते जाते थे। केवल इतना ही कहा—"अभी लड़की है। आप जैसे चाहेंगे, वैसे ही

करेगी। मेरी मंशा है, यदि आप उसे रुख़सत कर दें, तो अच्छा हो। एक जगह तबियत नहीं लगती, फिर आप बुला लीजिएगा।"

सेठजी चौकी से उठते हुए 'हरे कृष्ण-हरे कृष्ण' कहकर बोले—"अंदर पूछ लूँ, तभी आपको उत्तर दे सकता हूँ।" सेठजी अंदर गए, चुपके से अपनी स्त्री को बुलाकर कहा—"बहू का बाप आया है, रुख़सत के बारे में कहता है। तुम्हारी क्या राय है?"

"राय मेरी क्या होगी, जैसे तुम चाहो, करो। पंडितों से पूछ लो। दो महीने के लिये शुक्र डूब रहा है, फिर देव सो जायँगे। इस हालत में पाँच महीने के लिये बहू कहीं नहीं जा सकती। यों तुम्हें अख़्तियार है।"

"मुझे इन बातों से क्या मतलब, ऐसे ही जाकर कह दूँगा। बहू से मिलना चाहते हैं, रोटी कर रही होगी, उससे कह दो, उजली धोती बाँध ले।"

"तुम्हीं कहो। मुझसे वह नहीं बोलती। सीधी बात कहती हूँ, उसे उलटी लगती है।"

सेठ प्रभुदयाल बहू से उजली धोती बाँधने को कहते हुए बाहर बैठक में चले गए। जैसा उनकी स्त्री ने पढ़ाया था, वैसा ही कह दिया।

लाला दीनदयाल ख़ामोश। आगे कह ही क्या सकते थे? मजबूरन् कला से मिलने दुवारी में जा खड़े हुए। कला जल्दी में वही धोती बाँधे पहुँच गई, और नमस्ते करने के बजाय फूट-फूटकर, चीख़कर रोने लगी। लाला दीनदयाल भी रोने लगे। मिलने के बाद कला से कहा—"बेटी, तेरी तक़दीर—" और उसके चेहरे की ओर देखने लगे। "हैं, यह गर्दन पर कैसे ज़ख़्म हैं!" कला नीची गर्दन किए खड़ी रही। दीनदयाल ने जिस कला को फूल की तरह सींचा था, आज उसमें न तो वह प्रफुल्लता की ख़ुशबू थी, न पँखुड़ियों का-सा शरीर का रंग था। मुरझाए हुए फूल की तरह कला खड़ी थी। मानो ससुराल उसके लिये पतझड़ का

मौसम था। उसके हाथ-पैर सूख गए थे। धोती भी नौकरानियों की तरह मैली-कुचैली बाँधे हुए थी। बहुत देर न होने पाई थी कि सेठजी दुआरी के दरवाज़े पर खाँस उठे। वह वास्तव में खड़े तभी से थे, जब से बाप-बेटी मिलने गए। अकस्मात् खाँसी आ गई। तुरंत ही लालाजी बीस रुपए कला को देकर चल दिए। कला ने यही कहा—"मेरी ख़बर लेते रहना।"

दरवाज़े पर ही सेठजी को राम-राम की, और बग़ैर कुछ लिए-दिए वहाँ से रुख़सत हुए। सेठजी को क्रोध आ गया। उन्हें आशा थी, कुछ प्राप्ति होगी, परंतु हाथ मलते रह गए। अंदर आकर सेठजी ने बहुत कुछ उलटी-सीधी सुनाई। उनकी स्त्री उनसे पहले क्रोध में भर गई थीं, क्योंकि कला वही रोटी करने की पुरानी धोती बाँधकर गई थी। सेठजी से कहने लगीं—"नटनी बाँस पर चढ़ती है, तो कुटुंब की लाज तो रखती है। तुम्हारी बहू वही धोती बाँधकर गई। तुमने कह भी दिया था।" दोनो बहू पर नाराज़ होने लगे। बेचारी चुप। रोवे, तो सास कह दे, अपने मा-बाप को रो रही है। इतने में भागमल आ गए। मा ने धोती का क़िस्सा छेड़ दिया, और बाप ने सहारा लगा दिया। भागमल के हाथ में बेत था। चौके में बैठी कला के अनगिनती झाड़ दीं। जितनी रोवे, उतने ही ज़ोर से और जमावे। वह कहावत साक्षात् हो रही थी कि मारे, और रोने भी न दे। इसी दशा में रोटी भी करती। सारा शरीर सूज गया। हाथों में जगह-जगह लील पड़ गए। एक बेत ठीक आँख के नीचे लगी। आँख फूटने में बाल-भर कसर रह गई।

भागमल ने अपनी मा से कहा—"इसने हमारा सारा ज़ेवर न-जाने कहाँ फेक दिया। उसकी जाँच होना ज़रूरी है।" ताली का गुच्छा ले उसने सारा गहना निकाला, परताला, तो दो चीज़ें गले की कम थीं, जिन्हें उसने स्वयं गिरवी रखकर जुआ खेला था। बस, कह दिया

कि आज मिसरानी को दे दीं। यह इस घर को अपना घर नहीं समझ रही है। थोड़ा-थोड़ा करके सब भेज देगी। अपनी बहू पर चिल्लाकर बोला—"किसी के घमंड में न रहना, एक-एक हड्डी तोड़ डालूँगा।"

कला अपने मन में यही कह रही थी कि अबला और दुर्बल का सहायक कोई नहीं। मैं अब समझी कि इन लोगों ने मेरा विवाह इसलिये स्वीकार किया कि धन की प्राप्ति होगी। जिस देश में, घर में या जाति में धन ही मुख्य हो, और स्त्री का आदर उसी पर ही निर्भर हो, वहाँ योग्यता को कौन पूछता है? क्या मेरी सहेली सब इसी दुर्दशा में होंगी। मुझे याद है, सहेली कहा करती थी कि मैं विवाह नहीं करूँगी। मैंने कारण पूछा, तो उसने उत्तर दिया कि उसकी बहन के साथ सास, ससुर, पति, नंद और अन्य कुटुंबी बड़ा अत्याचार करते हैं। मुझे विश्वास नहीं हुआ। आज समझी। हे ईश्वर! आज एक दिन में ही मैं कोठरी में बंद हुई, पिट गई, लातें खाई, बेतों से पिटी, गहना छिन गया, तो न-जाने आगे क्या होगा। यदि रात को अकेली अपने पिता के घर चली जाऊँ, तो लोग बुरा कहेंगे। अब तो यहीं भुगतनी पड़ेगी। ईश्वराधीन हूँ।

लाला दीनदयाल जितनी देर में कला पिटी, और सारी वारदातें हुईं, घर पहुँच गए। अपनी स्त्री से हाल कह दिया। क्या करते, बेबस थे। सांसारिक रिवाज से मजबूर थे। मिसरानी से इतना ज़रूर कहा कि तुम दिन में एक दफ़ा ज़रूर हो आया करना, जिसका उत्तर मिसरानी ने फ़ौरन् दे दिया कि मेरी चाँद पर तो इतने बाल भी नहीं।

निज़ामी का जादू

मस्ताशाह का नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो चुका था। स्त्रियाँ उन्हें निज़ामी साहब कहकर बोलती थीं। उनकी कुटिया पर हर वक़्त दस-पाँच आदमी मौजूद रहा करते थे। ठाले आदमियों के लिये आराम करने की जगह बन गई थी, जुआरी आनंद से जुआ खेला करते थे। चोर, डाकू, उचक्कों, बदमाशों के ठहरने की जगह हो गई थी। निज़ामी साहब के पास जो भी ठहरता, कुछ-न-कुछ देकर जाता था। खाने-पीने का प्रबंध ऐसा था कि दो वक़्त की जगह छः दफ़ा मिलता था। न-जाने कहाँ से शाहजी ने उर्दू-फ़ारसी की किताबें मँगा लीं, उन्हें हर वक़्त अपने पास रखते थे, और एक किताब सामने खुली रक्खी रहती थी। चाहे बातें कर रहे हों, किताब की तरफ़ देखकर कुछ गुनगुन करने लगना और साथ-साथ उत्तर भी दे देना स्वाभाविक-सा हो गया था।

निज़ामी साहब के पास हरएक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अपनी ऐसी समस्या लेकर आता था, जिसे वह स्वयं नहीं सोच सकता था। शाम के समय सब लोग बैठे हुए थे। निज़ामी साहब भी घुटने मोड़े नमाज़ पढ़ने की हालत में माला लिए मौजूद थे। एक ने पूछा—"क्या काफ़िरों को मारना ठीक है?" (काफ़िर उस देश में हिंदुओं को कहते हैं।)

निज़ामी साहब ने उत्तर दिया—"काफ़िरों को मारना अच्छा ही है, बुराई कौन बतलाता है।"

दूसरे ने पूछा—"आजकल कुछ समाजी मुसलमानों को बहकाकर अपना धर्म फैला रहे हैं। उनके साथ कैसा सलूक करना चाहिए?"

"ख़ुदा की राह में जान देना शहीद होना है। क़ुरान शरीफ़ में लिखा है—'नहीं जो ईमान लाते ख़ुदा के बेटे मोहम्मद पर, हैं वह काफ़िर और लाओ सीधे रास्ते पर उनको।' अगर ऐसा करने में जहाद भी करना पड़े, तो कोई हर्ज नहीं।"

अभी निज़ामी साहब अपनी बात ख़त्म भी न कर पाए थे कि एक और साहब, जो सूरत से क़ाज़ी या मुल्ला जान पड़ते थे, बोल उठे—"क़ाडों के घरों में किस तरह अपना मज़हब फैलाना चाहिए?"

इसका उत्तर शाहजी ने दे दिया—"चाहे जिस तरह से, फ़रेब से, मक्कर से, झूठ बोलने से, धोखा देने से, बहकाने से वग़ैरह। ख़याल सिर्फ़ इतना रखना है कि दीन न बिगड़े, और उन्हें चाहे जिस तरह से बहला-फुसलाकर अपने यहाँ ले आना चाहिए। मुसलमानी दीन ऐसा है, जिसमें ख़ुदा पर ईमान लाने से सारे ऐब दूर हो जाते हैं।"

क़ाज़ीजी और उपस्थित श्रोता निज़ामी साहब की बात सुनकर दंग ही नहीं रह गए, बल्कि बड़ी प्रशंसा की, और कहने लगे—"ख़ुदा ने एक पैग़ंबर भेज दिया, जिसने हमें सीधे रास्ते पर लाने की कोशिश की है। मगर हाँ, शाहजी, आप बतलाइए कि सरकार इन बातों के ख़िलाफ़ क्या करेगी? अगर कोई आदमी एक क़ाड की लड़की भगा ले जाता है, तो पता लगने पर उसे सज़ा मिलेगी?"

"ज़रूर मिलेगी। दीन इसलाम का सितारा नीचा है। सरकार का मज़हब उलटा है। दीन उनके यहाँ नहीं। ऐसे वक़्त आए हैं, जिनमें दीनदार आदमियों को सूली पर चढ़ना पड़ा है, मुसीबतें झेलनी पड़ी हैं, भूखों मरना पड़ा, लेकिन आख़िर में फ़तह दीन के हाथ रही। शहीदों का ख़ून बेकार नहीं जा सकता। वे ही लोग डरते हैं, जो दीन से दूर भागते हैं। ख़ुदा उन आदमियों को अपना प्यारा

बंदा नहीं समझता, जो उसकी राह में काम नहीं करते। मस्ताशाह, बेवक़ूफ़, जाहिल, बेईमान बंदा .खुदा को भूल गया।"

ऐसे ही शब्द उच्चारण करते हुए शाह साहब ने और किसी के प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। लोगों की हिम्मत भी नहीं पड़ी। सबको पूरा विश्वास हो गया कि निज़ामी साहब ठीक फ़रमाते हैं। एक-दो के एतराज करने पर क़ाज़ीजी ने डाट दिया—".कुरान में ऐसा ही लिखा है। या तो .कुरान शरीफ़ पर ईमान न लाओ और काफ़िर बनो, या निज़ामी साहब की बात पर भरोसा रक्खो।"

मुसलमानों में यही एक बात अच्छी है कि जहाँ किसी हाफ़िज़ या मुल्ला ने कुछ कह दिया, वह बात पत्थर की लकीर हो गई। चाहे संसार अपनी मोटी-से-मोटी अक़्ल से समझ ले कि ऐसा होना या करना असंभव नहीं, बलिक अनुचित भी है, लेकिन तब भी उनकी बात को बड़े-बड़े पढ़े-लिखे विद्वान् नहीं टाल सकते, और अपनी अक़्ल खो बैठते हैं। सच पूछिए, तो जिसने .कुरान शरीफ़ ज़बानी याद कर ली, दाढ़ी रखा ली, बाल बड़े कर लिए और गेरुए रंग के कपड़े पहन लिए, वह मानने-योग्य हो गया। जब मुसलमान वीरेश्वर की इतनी पूजा करने लगे, तो असली मस्ताशाह निज़ामियों का तो थूक ही चाटते होंगे।

मस्ताशाह रोज़ाना की तरह रात को बारह बजे तक जागते रहे। जब सोने लगे, तो क्या देखते हैं कि दो आदमी लंबे-लंबे क़दम बढ़ाए चले आ रहे हैं। वह उनकी तरफ़ देखने लगे। ज़्यादा देर न हुई होगी कि दोनो उनके सामने आ खड़े हुए। सलाम हुआ। इशारा पाकर दोनो बैठ गए। मस्ताशाह से कई सवाल किए। उन्होंने यही उत्तर दिया—"खाना खाओ, आराम करो।" उँगली उठाकर एक टोकरी की तरफ़ इशारा किया, जिसमें रोटियाँ रक्खी थीं, और .खुद शाहजी सोने का बहाना कर लेट गए।

उनमें से एक टोकरी के पास गया, और वहाँ से ज़ोर से बोला—"शरीफ़, आ जाओ, खाना बहुत है। सालन भी है। प्याज़ कच्चा रक्खा है। पानी भरते लाना।"

उसका साथी उठा, कुएँ से पानी खींचा, मुँह-हाथ धोकर कुल्ला किया, और मिट्टी के करवे में पानी भरकर पहुँच गया। अंदर छप्पर से एक चटाई निकालकर बिछा ली, और टोकरी बीच में रखकर दोनो ने खाना शुरू कर दिया। खाना ज़रूरत से ज़्यादा था, दोनो ख़ूब खाते रहे। मस्ताशाह चुप लेटे हुए थे। उनके कुल्ले की गड़गड़ाहट की आवाज़ सुन समझ गए कि अब खाना ख़त्म कर चुके, लेकिन शाहजी ने अपनी तरफ़ से बातचीत करना उचित न समझा। टोकरी ज्यों-की-त्यों उसी जगह रख शरीफ़ लेट गया, और बोला—"अली भाई, मेरे बस का उठना नहीं, मैं सोता हूँ।"

शरीफ़ ने हँसकर उत्तर दिया—"कहीं यहीं पड़े न रह जाना। थोड़ी देर आराम कर लो, अभी पचीस मील और चलना है। जब ठिकाने पर पहुँचेंगे, तभी आराम मिलेगा।"

"तुम्हारे लिये आराम है। मैं तो ज्यों-का-त्यों रहा। जैसा ही अकेला यहाँ पड़ा हूँ, वैसे ही वहाँ जा पड़ूँगा। तुम मौज से गुलछर्रे उड़ाओगे। आजकल मेरी क़िस्मत बिगड़ी हुई है। इतनी मेहनत उठाकर कुछ भी नतीजा नहीं निकला।" अली कहकर, पैर फैलाकर और दोनो हाथों को तकिए की तरह सिर के नीचे लगाकर आसमान के तारों की तरफ़ देखने लगा। उसकी निगाह से साफ़ मालूम होता था कि वह किसी ऐसी चीज़ की तलाश में है, जिसकी उसे अधिक आवश्यकता है, या किसी ऐसी वस्तु की खोज में है, जो उसके हाथ से खो गई है।

शरीफ़ भी उसी के पास आकर, पैर फैलाकर बैठ गया, और कहने लगा—"घबराने की कोई बात नहीं। ख़ुदा ने चाहा, तो बहुत जल्दी पहले से अच्छा शिकार मारकर लाएँगे।"

अली ने गंभीरता-पूर्वक कहा—"देखो, ख़ुदा किस वक़्त सुनेगा। हाल में कोई सूरत ऐसी नज़र नहीं आती, जिसमें शिकार मिले।"

"शिकार, अली भाई, एक नहीं दो। अगर तुम मुझसे आज कह दो कि लाओ, तो फ़ौरन् हाज़िर करूँ। मगर एक बात है, चीज़ अच्छी मिलनी चाहिए। सैकड़ों फिरती हैं, मगर वैसा शिकार हाथ आना कठिन है।"

"अरे भाई, उसकी याद मत दिलाओ। वह लड़की क्या थी, हूर थी। मैंने अपनी ज़िंदगी में उसके बराबर ख़ूबसूरत किसी को नहीं देखा। उम्र सत्रह साल की होगी। रंग भी कितना गोरा। हाथ-पैर तो ख़ुदा ने साँचे में ढाल दिए थे। ऐसा शिकार शायद ही हाथ आवे। हमारे बस का वह भी न था। भला हो अम्मीजान का, जो उन्होंने पता लगा दिया। अम्मीजान बेचारी हमारे लिये दिन-रात आफ़त उठाती हैं, मगर हमारी तक़दीर से मामला बिगड़ जाता है।" अली अपने हृदय की बात कह ही नहीं रहा था, बल्कि उसका प्रभाव उसके मन और शरीर पर था। उसने एक ठंडी साँस भरी, और हाथों से आँखें ढककर लेट गया।

शरीफ़ ने अपने भाई का दुःख कम करने के लिये बात फेरने का यत्न किया, और बोला—"उस रात को मौक़े पर ख़ूब पहुँचे। गाँववाले भी सो रहे थे, और घर के सारे आदमी न-जाने भंग के नशे में थे, या क्या था, करवट तक नहीं ली। कुछ कहो, भाई, लड़की तुमने अपने हाथों खोई।"

अली चौंककर उठ बैठा और पूछा—"वह किस तरह भाई, बुरा न मानना। जैसे ही हम उसकी खाट उठाकर लाए और दरवाज़े से निकलकर मैदान में रक्खी, तुमने वहीं उसका मुँह खोल दिया। खाट ले जाना तो दूर, तुम्हारी नियत में फ़र्क़ आ गया। यह मालूम था ही कि वह सदा हमारे साथ रहेगी, लेकिन तुम खाट को गाँव से

एक मील भी न लाए होगे कि तुमने फिर खाट रखा दी, और उसे जगा दिया। जागने पर तुमने उसे छेड़ने में ही एक घंटे से ज़्यादा ख़र्च कर दिया। अगर मैं न कहता, तो तुम सबेरा ही कर देते। लड़की डर के मारे जैसे हमने कहा, करने लगी; लेकिन हमारे बराबर चलना उसके बस का न था। ज्यों-त्यों दौड़-धूप करके दस मील लाए होंगे कि सबेरा हो गया। तब भी तुम बाज़ नहीं आए। तुम्हें मालूम था कि रात ही में अगर हम ज़्यादा सफ़र कर लेते, तो अपने घर आ जाते, फिर भी तुम अपनी ज़िद पर अड़ गए, और बेचारी को तंग करने लगे। सच पूछो, तो वह बेहोश तुम्हारे बर्ताव से हुई।"

"शरीफ़, तुम बिलकुल ग़लत कहते हो। ख़ैर, क्या कहूँ, तुमने उसे इतना भगाया कि उसके पैरों में छाले पड़ गए थे। ठोकरें लगते-लगते उँगलियों से ख़ून बह निकला था। अगर तुम न भगाते, तो आहिस्ता-आहिस्ता किसी-न-किसी तरह पहुँच जाते, और लड़की भी न मरती।"

अली मरने का नाम सुनकर बिलकुल चुप हो गया, उसकी ज़बान से एक शब्द भी न निकला। शरीफ़ ने कहा—"अगर वह आज होती, तो घर में क्या रौनक़ होती। अब मैं हूँ। ख़ुदा की क़सम खाता हूँ कि जब मैं अपनी बीवी से बातें करता हूँ, तो मुझे बड़ी शर्म आती है। बड़ा भाई अकेला और मैं उसके सामने मौज करूँ। तुम्हें इतनी फ़िक्र न होगी, जितनी मुझे है। भाई, वह लड़की थी अच्छी। उसने तुम्हें अपना क्या नाम बतलाया था। याद है या भूल गए?"

"नाम! और याद न रहे। उसे तो मैं अब भी याद करता हूँ। मर गई है, लेकिन मेरे कलेजे में समा रही है। उसका नाम भवानी था। वल्लाह आलम! नाम भी बड़ी ज़िद करने पर बतलाया। मैंने ख़ुशामद की, फुसलाया, मगर मुँह से हरफ़ तक नहीं निकाला।

आख़िर मैंने उसे इस ज़ोर से दबाया, और कलाई मोड़ी कि वह उस मुसीबत को न सह सकी, और रोते हुए अचानक उसकी ज़बान से 'भवानी' निकल पड़ा।"

शरीफ़ ने धीरे से भवानी का नाम लिया, और बोला—"काफ़िरों की लड़कियाँ अजीब होती हैं। उन्हें शर्म इतनी होती है, जिसकी हद नहीं। मरते दम तक उसने हाथ-पैर फेंके, और यही कोशिश की कि बदन से कोई हाथ न लगा सके, मगर मजबूर थी। हम दोनो के सामने पेश न पड़ी। भाई अली, तुमने मरते वक़्त जो शरारत की, वह एक हैवान भी नहीं करता। शायद वह न मरती, मगर तुमने एक न सुनी, और मैंने ज़्यादा इस वजह से नहीं कहा कि तुम बुरा मान जाते। मिज़ाज तुम्हारा काफ़ी बिगड़ चुका था।"

अली ने गंभीरता से पूछा—"अब क्या करना चाहिए? अम्मी को ख़बर लग गई होगी। ख़ुद ही कोशिश कर रही होंगी। उनसे मिलना ज़रूरी है। शरीफ़, कहो, तो मैं जाऊँ। अगर तुम मुनासिब समझो, तो एक दिन मिल आना।"

"जैसा आप कहें, मुझे इनकार नहीं। मैं कह चुका हूँ कि मुझे असली ख़ुशी तभी होगी, जब भाभी आ जायँगी। मेरे घर में भी अकेली पड़ी रहती है। एक दिन कहती थी कि पड़े-पड़े तबियत नहीं लगती, अगर कहीं बाहर घूमने चला जाय, तो अच्छा रहे। मैं तभी उसे दूसरी चट्टान पर ले गया था। वहाँ हम बैठे भी रहे। ख़ुदा जानता है, मेरी बीवी भी बस एक है। जिस वक़्त मजीदन कहकर पुकारता हूँ, तो बड़े मीठे स्वर में कहती है—'जी हाँ।' काम करने में बड़ी होशियार है। मा-बाप की याद पहले बहुत करती थी, मगर अब कभी मुँह से एक हरफ़ भी नहीं निकालती। अम्मीजान का भला हो, ऐसी बीवी दिलवाई।"

अली शरीफ़ की बातें सुनकर चुप हो गया। इसका अर्थ शरीफ़ ने यह निकाला कि वह उसकी बीवी के नाम से जलता है। उसकी
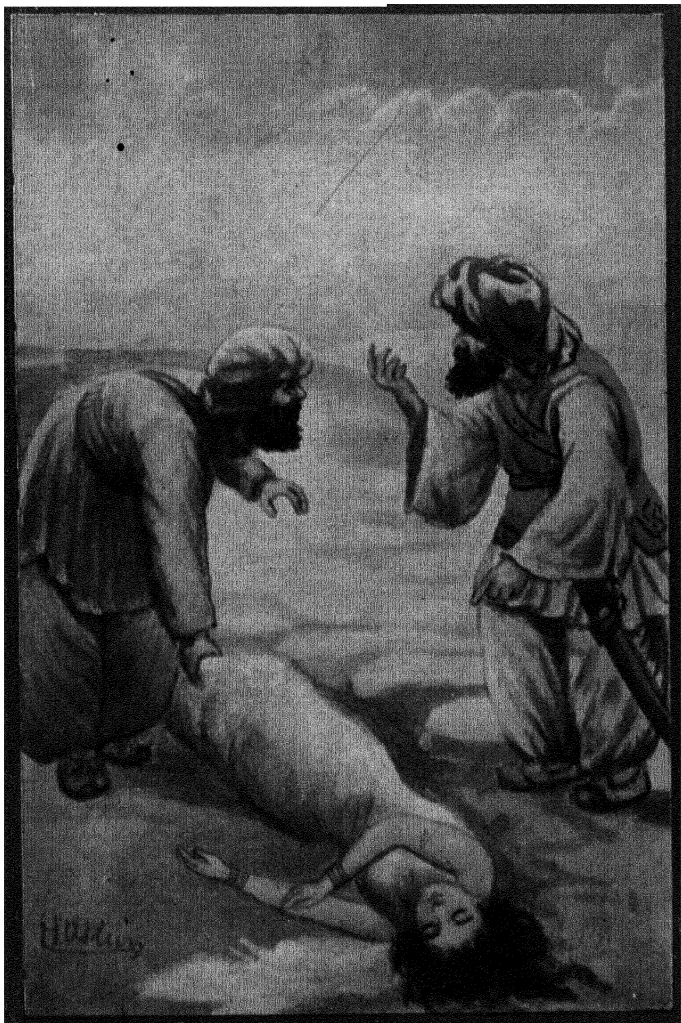
मरते दम तक उसने हाथ-पैर फेंके, और वही कोशिश की कि बदन से कोई हाथ न लगा सके, मगर मजबूर थी।

(पृष्ठ-संख्या १४०)

त्योरी बदल गई, और अपने भाई की तरफ़ तिरछी निगाह से टकटकी बाँधे देखता रहा। अली समझ गया, और बड़ी हमदर्दी से कहा—"शरीफ़! अपने छोटे भाई की बीवी के बारे में कहना ठीक नहीं। तुम्हें भी उसका ज़िक्र नहीं करना चाहिए था। मैं जानता हूँ, वह बहुत अच्छी है, मगर कुछ नहीं कह सकता। अगर मैं अपनी बीवी की तारीफ़ करूँ, तो तुम्हें हँसी करने का अधिकार है, मगर मैं नहीं कर सकता।"

शरीफ़ अपने भाई का मंतक़ सुनकर चुप हो गया, और चाँद को नीचा ढलता हुआ देख कहने लगा—"भाई, चलना चाहिए। दिन निकलने में बहुत कम वक़्त रह गया है। ऐसा न हो, दिन निकलने पर यहीं ग़ारों में छिपकर रहना पड़े। पुलिस हमारे पीछे है।"

अली ने कहा—"मैं नहीं चल सकता। खाना खा चुका हूँ। यहाँ से तीन मील पर ग़ार है, वहीं छिप रहेंगे, शाम को घर पहुँच जायँगे। आराम करने को जी चाहता है। तुम्हें घर पहुँचने की जल्दी पड़ रही है, मुझे अपनी सूझ रही है।"

शरीफ़ ने कहा—"अच्छा, वहीं चलो। सबेरा होनेवाला है। तीन मील चलने में कुछ देर ज़रूर लगेगी।" शरीफ़ ने अपने भाई को हाथ पकड़कर उठाया, और उसका साफ़ा चटाई से उठा अपनी बग़ल में दबा लिया। चटाई छप्पर में रखते हुए आगे बढ़ गए। शरीफ़ ने चलते हुए कहा—"भाई, अगर क़दम बढ़ा दें, तो शायद ख़तरे से बाहर निकल जायँ। यहाँ से दस-बारह मील चलना है, आगे इतने खार-खड्डे हैं कि जहाँ जी में आए, छिप सकते हैं।"

अली ने ताना देकर कहा—"तुझे पुलिस की आदत पड़ रही है। मैं भाग सकता हूँ, मगर लंबी डगें नहीं रख सकता। मेरे साथ-साथ चल।"

शरीफ़ ने अपनी चाल धीमी कर दी। भाई से बोला—"पुलिस

की नौकरी से बरख़ास्त हुए तीन साल से ज्यादा हो गए । आदत कब तक रहेगी । मगर भाई, एक बात है, जब से घरवाली आई है, मैं हमेशा दूसरी रात को पहुँच गया हूँ । घर से निकले तीन दिन हो चुके, और आज शाम को पहुँचेंगे, चौथा दिन हो जायगा । मजीदन अकेली घबरा रही होगी । खाने का सामान ज्यादा रखकर नहीं आया था । उसके ख़याल से जल्दी कर रहा हूँ ।"

अली ने अपने भाई को डाट दिया, और कहा—"बीबी क्या मिली, घर से बाहर जाना दूभर है । तुमसे मैं क्या उम्मेद कर सकता हूँ कि तुम मेरे लिये कोशिश करोगे । बीबी का जितना तुम्हें रंज है, उससे ज्यादा मुझे । खुदा की मेहरबानी से वह ज़िंदा है । उससे अब न मिले, शाम को मिल लोगे । मुझे तो किसी तरह अपनी बीवी से मिलने की उम्मेद नहीं हो सकती ।"

शरीफ़ ने फिर आगे कुछ न कहा, और दोनो चुप आगे बढ़ते चले गए । सरहद्दी सूबे में रास्ता अजीब होता है । ऐसे-एसे खड्ड होते हैं, जहाँ आदमी मिनटों में आँखों से ओझल हो जाय । ये पगडंडियाँ वहीं के लोग जानते हैं । बीच-बीच में ऐसे पहाड़ी टीले आ जाते हैं, जहाँ आदमी के लिये चढ़ना मुश्किल हो जाय । शरीफ़ ने अपनी जेब से मूँज की रस्सी निकाल ली, और लकड़ियों की खूँटियों से जूते बनाने लगा । चलते-चलते इन लोगों के लिये जूते बनाना आसान बात है । चमड़े का जूता खार-खड्डों में तकलीफ़ देता है, फटने पर घसीटना पड़ता है, इसलिये इस काम मे पड़े हुए आदमी, जिनका उद्देश्य लूट-मार, डाका डालना, चोरी करना होता है, अपने साथ मूँज के जूते रखते हैं, या चलते-चलते बना लेते हैं । कहीं-कहीं ऐसे जूते फटे हुए मिल जाते हैं, जहाँ से उनका खोज लगाने की कोशिश की जाती है ।

दोनो भाई खड्डों पर पहुँच गए । दिन-भर जंगली सुअरों की

तरह उस खोह में पड़े रहे। इनको भूखे और प्यासे रहने की आदत पड़ गई थी। जब दिन छिपने में दो घंटे की कमी रह गई, दोनो लोमड़ी की तरह देखते-भालते बाहर निकले, और अपने घर की तरफ़ रवाना हुए। रात ज़्यादा नहीं हुई थी। जिस वक़्त वे अपने घर पहुँचे, दरवाज़े का पत्थर हटाया, चिराग़ जलाया, और अंदर गए। शरीफ़ अपनी बीवी की कोठरी में गया, तो क्या देखता है कि वह वहाँ नहीं है। इधर-उधर देखा, पता न चला।

शरीफ़ समझा, बाहर गई होगी, लेकिन रात-भर इंतज़ार करने पर भी सबेरे तक कुछ पता न लगा।

नवीन खोज

निज़ामी साहब ने जब से अली और शरीफ़ की बातें सुनीं, तब से उन्हें इस बात की बहुत उत्सुकता हुई कि जितनी जल्दी सुपरिंटेंडेंट साहब और केसरीसिंह को खबर मिल जाय, उतना ही अच्छा। वह तुरंत ही दोनो के जाने के बाद उठे, और अपने मस्ताशाही वेश में लायलपुर की ओर रवाना हो गए। रास्ते में गाँव के आदमी मिले, सलाम हो जाती और निज़ामी साहब उत्तर देते हुए आगे बढ़ते चले जाते थे। रास्ते-भर उनके मन में यही शंका रही कि इन दोनो की अम्मीजान कौन है? क्या नसी-बन हो सकती है? यदि वही है, तो शीला उसी की मक्कारी से भगाई गई है। अगर वह नहीं, तो मामला न-जाने कितना समय और ले। पता लगे या न लगे, परंतु निज़ामी साहब को एक बात पर पूरा भरोसा था, शरीफ़ पहले पुलिस में नौकरी करता था, तीन साल हुए, जब वह बरखास्त किया गया था। उसके नाम से गाँव और मा-बाप का पता चल जायगा। इसी उधेड़-बुन में निज़ामी साहब साहब के बँगले पर पहुँचे।

चपरासी से आवाज़ देकर पूछने पर मालूम हुआ कि साहब दौरे पर गए हैं, शाम को लौटेंगे, साथ में सरदारजी भी गए हैं। अपना नाम और काम न बतला बँगले के पास ही, एक पेड़ के नीचे, पड़ रहे। शाम होने में कुछ देर थी कि देखा, साहब घोड़ा दबाए आ रहे हैं। उठ-कर सलाम किया, और घोड़े की लगाम पकड़ वहीं सामने खड़े हो गए। साहब देखते ही बोले—"कहिए वीरेश्वर बाबू, क्या पता लाए?"

"सरकार घर चलें, चाय-पानी करें। इतनी देर में सरदारजी को

भी बुला लें,. फिर सारा हाल बतलाऊँगा। आशा तो ऐसी है कि खोज मिल जायगी। आगे आपका काम है।"

साहब 'बहुत अच्छा' कहकर आगे बढ़ गए। वीरेश्वर भी पीछे से वहीं पहुँच गया, और कमरे में जाकर बैठ गया। सरदारजी भी आ गए। साहब अपनी मेम-सहित कमरे में आ बैठे। कुछ देर तक सब लोग वीरेश्वर की तरफ़ देख-देखकर हँसते रहे और ख़ूब दिल्लगी रही। वीरेश्वर ने अपना सारा हाल कह सुनाया। शरीफ़ का पता लगाने पर ज़्यादा ज़ोर दिया, और कहा—"नसीबन अगर उसकी मा है, तो कुछ भेद खुल जायगा।" सरदारजी ने अपनी गर्दन हिलाकर वीरेश्वर की बात से सहानुभूति प्रकट की।

साहब ने अपना सिगार जला और मेज़ का सहारा ले सरदारजी से पूछा—"क्या करना उचित होगा?"

"जो हुज़ूर मुनासिब समझें।"

"नहीं, आप बतलाइए। मैं अपनी राय बाद में दूँगा।"

"हुज़ूर के सामने मैं क्या कह सकता हूँ। आप हुक्म दीजिए, उसे बजा लाना मेरा काम है।" सरदारजी यह कहकर साहब की ज़बान से हुक्म सुनने के लिये इंतज़ार करने लगे, और कुर्सी पर सँभलकर बैठ गए।

"नसीबन कौन है?"

"मुसलमानी है। शीला के और उसके घर की दीवार एक है। उसका आना-जाना भी रहता था। घंटों घर में बातें करती रहती थी।"

"सूरत-शक्ल से उसकी मक्कारी का कुछ पता लगता है?" पूछकर साहब ने सिगार की राख मेज़ पर रक्खी हुई तश्तरी में झाड़ दी, और गर्दन कुर्सी के तकिए से लगाकर ऊपर देखते हुए सिगार पीने लगे।

"औरत तजुर्बेकार है। बनी-ठनी रहती है। वीरेश्वर के खिलाफ़ बयान दिए थे। वहाँ के कोतवाल साहब उसे अच्छा समझते हैं, मगर मेरी राय में वह एक बनी हुई औरत से कम नहीं मालूम होती। उसके रहने-सहने का ढंग विचित्र है। वैसे ख़ूबसूरत है।"

"वीरेश्वर बाबू, आप नसीबन से दुश्मनी निकालना चाहते हैं। उसने आपके खिलाफ़ गवाही दी, इसलिये आपने उसे फँसाने की कोशिश की। ऐसा काम करना चाहिए, जिससे फ़ायदा हो। आप ही सोचिए, अगर वह बेक़सूर साबित हुई, तो पुलिस के लिये कितनी बद-नामी की बात है!" साहब कहने के बाद बड़े ग़ौर से सोचने लगे।

वीरेश्वर ने सोचा, इस समय चूकना ठीक नहीं। यदि नसीबन की कोई खोटाई न निकले, तो भी उसे गिरफ़्तार करने में हानि नहीं। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—"आप मालिक हैं, लेकिन पुलिस जिसे चाहे, सुभे पर गिरफ़्तार ही नहीं कर सकती, बल्कि दंड भी दे सकती है। क्या जितने मामले चलते हैं, सब ठीक होते हैं? यदि पुलिस बदनामी का खयाल करे, तो एक दिन की हो चुकी। आप अपने पेशे को चाहे जितना अच्छा बतलाएँ, लेकिन जनता यही कहती है कि पुलिस बदमाशों की दोस्त और शरीफ़ों की दुश्मन होती है।"

साहब सुनते ही चौकन्ने हो गए। उनके चेहरे से क्रोध टपकने लगा, लेकिन वीरेश्वर बहादुरी से वहीं कुर्सी पर शांत-चित्त बैठा हुआ सुनने के लिये तैयार था। साहब ने कहा—"क्या पुलिस बेईमान है?"

"मैं ऐसा नहीं कह सकता। अपने बारे में कह सकता हूँ कि बग़ैर क़सूर दो साल जेल में काटे। कोतवाल साहब ने मुकद्दमा ऐसा बनाया, जिसके फंदे से निकलना दूभर हो गया। मैं सच कहता हूँ कि बग़ैर जुर्म के सज़ा मिली।"

"सब क़ैदी ऐसे ही कहते हैं। अगर अपना क़सूर क़बूल कर लें, तो पुलिस को क्यों इतनी दिक़्क़त हो। हम लोग अमन रखने के लिये हैं।"

सरदारजी साहब और वीरेश्वर की बातचीत बढ़ते हुए सुन बात टालने की कोशिश करने लगे। उन्होंने बीच में ही बात काटकर कहा—"सरकार, नसीबन ऐसी औरत है, जिसके ऊपर आप भी सुभा कर सकते हैं। आप मुनासिब समझें, तो उसे हिरासत में ले लिया जाय। अगर वह मुजरिम नहीं, तो छोड़ दिया जायगा। अगर वह इस राग में शामिल है, तो अपना काम बनता है। हिरासत में न लेने से, अगर उसे मालूम हो गया कि इस मामले का पता चल रहा है, और वह वाक़ई क़सूरवार है, तो, उसे फिर पकड़ना नामुमकिन है। मुसलमानी है, चाहे जहाँ बुर्क़ा डालकर बैठ रहेगी, नाम बदल लेगी। इन लोगों के घर जाना भी गुनाह है। मेरी राय में उसे गिरफ़्तार करना ज़रूरी है।"

साहब पैर हिलाकर हूँ-हूँ करने लगे, और बोले—"सरदार, तुम्हें मालूम है कि उसके कोई लड़का है?"

वीरेश्वर ने तुरंत ही उत्तर दिया "जहाँ तक मुझे मालूम हुआ है, उसके कोई लड़का नहीं, और वह यह भी कहती है कि उसकी शादी अब तक नहीं हुई। भला, मुसलमानों में यह कैसे मुमकिन है! एक औरत बग़ैर शादी के मुसलमानों में क्योंकर रह सकती है! इनमें तो चाहे जब शादी हो जाय।"

मेम साहब अब तक खामोश बैठी हुई थीं, लेकिन यह सुनकर कि 'औरतें बग़ैर शादी के नहीं रह सकतीं', आश्चर्य से अपने साहब की तरफ़ देखने लगीं और बोलीं—"औरतें बग़ैर शादी के रह सकती हैं। विलायत में बहुत-सी ऐसी हैं, जिन्हें शादी के नाम से नफ़रत है।"

वीरेश्वर ने मेम-साहब से बहस करना उचित नहीं समझा। वह

मेमों के बारे में जानता था कि उनसे बहस करने पर कभी जीत नहीं हो सकती। दूसरे, बात बढ़ाना भी नहीं चाहता था। अतएव गंभीरता और आदर-सत्कार से उसने कहा—"मेम साहब, आप बिलकुल ठीक कहती हैं।" जैसे ही वीरेश्वर की ज़बान से ये शब्द निकले, साहब सोचने लगे, कहीं मेम साहबा से झड़प न हो जाय, लेकिन वीरेश्वर के लहज़े से उन्हें संतुष्टि हो गई। वीरेश्वर ने फिर कहा—"विलायत में औरतों के लिये शादी न करना कोई गुनाह नहीं। अव्वल तो वह पढ़ी-लिखी होती हैं; दूसरे, समझती हैं कि ज़िंदगी किस तरह गुज़ारनी चाहिए; तीसरे, वे अपनी अक़्ल या हाथ की दस्तकारी से अपने खाने-पीने के लिये काफ़ी से ज़्यादा पैदा कर सकती हैं। मुसलमानियों का हाल दूसरा है। उन्हें तो सिवा अपने मा-बाप या मालिक के और किसी का मुँह देखना नहीं पड़ता। क़ैदी की तरह कपड़े के बोरे में, जिसे बुर्क़ा कहते हैं, रात-दिन घर बैठी पान-तंबाकू खाती हुई पीली पड़ जाती हैं। ख़ून का न होना और दुबला होना उनके यहाँ की ख़ूबसूरती है। पढ़ने-लिखने के नाम से मीलों दूर भागती हैं। भला, ऐसी स्त्रियाँ बग़ैर विवाह के कैसे रह सकती हैं। और, यदि रहती भी हैं, तो इसी तरह, जैसे गाय-भैंस। क्षमा करना, उनकी भी तो शादी नहीं होती।"

मेम साहब आख़ीर के जुमले पर खिलखिलाकर हँस पड़ीं, और अपनी बुनने की सलाई को घुटनों पर रखकर बोलीं—"वाह मिस्टर वीरेश्वर, ख़ूब कहा!" वीरेश्वर ने मुस्किराकर अपनी निगाह नीची कर ली। साहब भी अपनी मेम के हँसने पर बड़े प्रसन्न हुए। मेम साहब ने कहा—"हिंदुओं में भी तो यह हाल है?"

"आप ठीक कहती हैं, वह मुसलमानों के असर से। हमारे यहाँ परदा नहीं था। उसका सबूत यही कि दक्षिणी हिंदोस्तान, बंगाल इत्यादि देशों में भी, जहाँ मुसलमानों का राज्य नहीं रहा है,

औरतें पुराने ज़माने की तरह बग़ैर परदे के रहती हैं, पढ़ती और आज़ादी से घूमती हैं। जो कुछ परदा है, वह मुसलमानों के राज्य होने और उनके ज़ुल्म से है। आप जानती होंगी कि सरहद्दी सूबे में क्या मेमें और उनके बच्चे इसी तरह आज़ादी से घूम सकते हैं, जैसे यहाँ या विलायत में। वहाँ कितनी हिफ़ाज़त से रहना पड़ता है। वजह यही कि सरहद्दी डाकू पकड़कर ले जाते हैं।"

मेम साहबा को यह हाल सुनने पर कँपकँपी-सी आने लगी। उन्होंने अपने दोनो हाथों को जकड़कर कहा—"परमात्मा बचावे। इसी साल मिस ऐलिस को पकड़ ले गए। वह बेचारी अपने कमरे में सो रही थी। वीरेश्वर बाबू, ठीक कहते हो, मैं समझ गई।" मेम साहबा साहब की तरफ़ मुख़ातिब होकर बोलीं—"क्या वीरेश्वर बाबू उस मुसलमानी को गिरफ़्तार करने के लिये कहते हैं? ज़रूर करना चाहिए।"

साहब अपनी स्त्री की बात टालना नहीं चाहते थे, और न उन्हें यह बात बुरी लगी; क्योंकि वह अपनी स्त्री से हर काम में सलाह लेते थे। उन्होंने सरदारजी को एक काग़ज़ पर रोबकार लिखकर दिया, जिसमें नसीबन की गिरफ़्तारी का हुक्म था, और कहा कि इस बात को पोशीदा रखना। दफ़्तर में जाकर उन्होंने एक थानेदार से तीन साल पहले सिपाहियों के नाम का रजिस्टर लाने का हुक्म दिया, और यह किसी को नहीं बतलाया कि किस काम के लिये ज़रूरत है।

थानेदार साहब एक मोटा रजिस्टर लाकर साहब के सामने खड़े हो गए, और सिर झुकाते हुए प्रार्थना की—"सरकार, क्या देखना चाहते हैं, मैं निकाल दूँ?"

साहब ने उत्तर दिया—"हम देख लेगा।" और रजिस्टर को अपने हाथ में लेने की इच्छा प्रकट की।

थानेदार ने कहा—"हुज़ूर, मैं पकड़े हूँ, आप वर्क़ लौटकर मुलाहिज़ा कर लीजिए।" साहब ने ऐसा ही किया, और आख़ीर सफ़े तक नाम पढ़ा। जब एक वर्क़ बाक़ी रहा, शरीफ़ का नाम मिल गया, और कैफ़ियत में लिखा था कि बदमाशी के मामले में बरख़ास्त किया गया। साहब ने उसी को पढ़कर रजिस्टर बंद नहीं कर दिया, बल्कि आख़ीर तक पढ़कर उसे लौटा दिया, और सरदार से बोले—"आज शाम को सारे सिपाहियों की परेड हो।"

"बहुत अच्छा हुज़ूर, मगर जो लोग अर्दली या अपने काम पर हैं, उन्हें भी बुलाया जाय।"

"क्यों नहीं, उनकी जगह पर साल या दो साल के पुराने सिपाहियों को भर देना। यह वहीं तय हो जायगा। हम ठीक पाँच बजे पुलिस-लाइन पहुँचेगा। आज खेल नहीं होगा। वीरेश्वर बाबू से कह देना कि वह पुलिस में न आए, और इत्तला दे देना कि नसीबन के गिरफ़्तार होने पर आगे काररवाई चलेगी। हाँ, वह जब जाय, तो हमसे मिलकर जाय।"

"बहुत अच्छा हुज़ूर," कहते हुए सरदारजी कोतवाली पहुँच गए और पुलिस-लाइन में ख़बर पहुँचवा दी। एक पर्चा भी लिख दिया कि साहब मुआइना करेंगे। सिपाही वर्दी पहने 'रैट' मिलें। मैं भी पाँच बजे से पहले आ जाऊँगा। हवल्दार को भेजकर और ज़बानी कहकर सूचना फ़ौरन् ही भेज दी।

पुलिस-लाइन में लगभग पाँच सौ जवान अपनी ख़ाकी वर्दी पहने हुए क़तारों में खड़े थे। सरदारजी और उनके सारे साथी साहब की इंतज़ारी में तैयार खड़े थे। साहब के आने पर फ़ौजी सामान दिया गया। परेड हुई, और हुक्म पाने पर सारे सिपाही एक जगह इकट्ठे होकर साहब के सामने उनका भाषण सुनने के लिये तत्पर हुए। पुलिस में जितने हुक्म होते हैं, उनका अंश-मात्र भी भाषण

नहीं होता। यदि बोलते भी हैं, तो यह हुक्म देकर कि साहब ने केवल इतना ही कहा कि जो जवान तीन साल के अंदर भरती हुए हैं, वे थानेदार से अपनी ड्यूटी लेकर काम लें, और बाक़ी जवान यहीं रहें। मिनटों में सिपाही छँट गए। बाक़ी बचे हुओं को साहब ने बिठालकर पूछा कि शरीफ़ नाम का एक सिपाही हमारे यहाँ तीन साल पहले पुलिस में था, उसे किसी जुर्म में निकाल दिया गया। तुम लोगों में कौन-कौन ऐसा है, जो उसके बारे में ज़्यादा जानता है, और उसके घर का पता बतला सकता है। बैठे हुओं में से दो आदमियों ने खड़े होकर हाथ उठा दिया। साहब ने उन दोनो को रोककर बाक़ी सबको छुट्टी दे दी। लौटनेवाले जवान आपस में एक दूसरे से कानाफूसी करते जाते थे कि क्या मामला है ? कहीं इन दोनो को भी न निकाला जाय। कुछ यह भी कह रहे थे कि यार, अच्छा हुआ, मैंने हाथ न उठाया, क्योंकि उसका घर मेरे गाँव से आठ ही कोस पर था।

साहब दोनो को लेकर सरदारजी के साथ अलग चले गए, और पूछा कि आजकल शरीफ़ क्या करता है ?

एक सिपाही ने जवाब दिया—"हुज़ूर, आपको यह तो मालूम ही है कि उसका भाई अली डाकू है। एक दफ़ा शरीफ़ ने अली को डाका डालने में अपनी बंदूक़ चुराकर दे दी थी। पता चलने पर उसे निकाल दिया गया। अली ने कई दफ़ा सज़ा पाई है, मगर हर मर्तबा वह जेल से भागकर निकला है। जब पकड़ा जाता है, सज़ा हो जाती है। नंबरी डाकू है। उसका गाँव मेरे गाँव के पास है, लेकिन वह कभी वहाँ नहीं रहता। सरहद के पहाड़ों में रहता है। अफ़रीदी और वज़ीरियों से मिला रहता है। जब से शरीफ़ यहाँ से गया है, कुछ दिन अपनी मा के पास रहा, मगर उसका और उसकी मा का पता भी कहीं नहीं मिलता। बाप उसका पहले ही मर चुका था।"

साहब ने पूछा—"और क्या जानते हो ?"

दूसरा सिपाही बोला—"जो हुज़ूर पूछें ।"

"उसकी मा का क्या नाम है ?"

दोनो सिपाही एक दूसरे का मुँह ताकते रह गए। उनमें से वही पहला आदमी बोला—"उसके बाप का नाम मोहम्मदजान था। वह मर गया।"

"ओह ! हम तुमसे पूछता है कि उसकी मा का क्या नाम है ?"

"हुज़ूर, मा का, मा का नाम तो करीमा है।"

"करीमा !" साहब सुनते ही सरदारजी की तरफ़ देखने लगे, और आँख से इशारा करके उन्हें मुख़ातिब किया। सरदारजी चुप थे।

साहब के कई बार इशारा करने पर सरदारजी ने पूछा—"मोहम्मदजान की कितनी शादियाँ हुई थीं ?"

"एक, सरकार ।"

"क्या उसके एक ही बीवी थी ?"

"जी, सरकार ।"

"उसकी बीवी, जब तक वह ज़िंदा रही, उसी के पास रहती थी ?"

"हाँ, सरकार ।"

"मोहम्मदजान क्या करता था ?"

"खेती हुज़ूर ।"

"तुमने शरीफ़ की मा को कभी देखा था ?"

"क्यों नहीं सरकार, जब हम बच्चे थे, शरीफ़ के साथ ही पढ़ते थे। उसके घर बुलाने जाया करते थे।"

"उसका हुलिया मालूम है ?"

"हाँ, सरकार ।"

"कैसी है ?"

"सरकार, जैसी औरतें होती हैं। अब तो उम्र खिंच गई है, पहले बहुत ख़ूबसूरत थी। रंग गोरा, होंठ पतले, पान का बहुत शौक़ था। हमेशा सफ़ेद कपड़े पहनती थी। बातचीत करने में बहुत होशियार, जैसी हम लोगों में होती हैं।"

"तुम उसे पहचान लोगे?"

"हाँ, सरकार।"

"और तुम दूसरे जवान?"

"नहीं सरकार, मैं हिंदू हूँ. पहले शरीफ़ के साथ था। उसके घर भी जाता था, मगर वह परदा करती थी। मुसलमानिनें परदा करती ही ज़्यादा हैं।"

सरदार ने इस सिपाही को भी भगा दिया, और पहले सिपाही से बोले—"तुम्हें इसलामनगर जाना होगा। वहाँ के कोतवाल साहब को साहब की चिट्ठी देना और मेरा सलाम कहना। एक औरत तुम्हारे साथ आवेगी, उसे तुम देखना। मुमकिन है, वह तुमसे क्या, हर किसी से परदा करे। तुम अपने ख़ुफ़िया वेश में जाना। पास बाबू से बनवा लो।" साहब ने भी सरदार की राय में राय मिला दी। सिपाही अपना बिस्तर-बोरिया बाँध बारग से चला। लोगों ने समझा, यह भी शरीफ़ की तरह निकाल दिया गया है। हर जवान उससे पूछने आता था, मगर वह ख़ामोश चल दिया।

सिपाही के पहुँचने से पहले रोबकार इसलामनगर पहुँच चुका था। कोतवाल साहब पढ़ते ही चकरा गए, समझा न-जाने क्या है। नसीबन की गिरफ़्तारी का इंतज़ाम करना पड़ा, लेकिन दिल में बहुत शर्मिंदा थे। बार-बार यही ख़याल आता था कि यहाँ के मुसलमान क्या कहेंगे? अब तक उन्हें बहुत मदद दी, हिंदुओं के मुक़ाबले उन्हीं का ख़याल रक्खा, मगर आज अपने हाथों अपनी

इज़्ज़त उतार रहा हूँ, मगर बेबस थे। सरकारी हुक्म। अगर साहब यहीं के होते, तो ख़ुद जाकर उलटा-सीधा बहकाता। मजबूरन् गिरफ़्तारी के लिये सिपाहियों की दौड़ भेजनी पड़ी।

जैसे ही सिपाही नसीबन के मकान के पास पहुँचे, मालिक-मकान ने समझा कि लाला दीनदयाल के घर दौड़ आई है। मोहल्लेवालों को भी पूरा विश्वास था, क्योंकि 'बद अच्छा, बदनाम बुरा'। जब से शीला ग़ायब हुई थी, बेचारे काफ़ी बदनाम हो चुके थे। कुछ लोगों ने यह अनुमान किया कि सेठ प्रभुदयाल ने लाला दीनदयाल के ऊपर कुछ इलज़ाम लगाया होगा, और सेठजी का मेल बड़े-बड़े अफ़सरों से है, इसलिये दौड़ उन्हीं के यहाँ आई होगी। लाला दीनदयाल और सेठजी की अनबन, कला की रुख़सत न होने से, शहर-भर के हिंदुओं को मालूम थी। दौड़ देखकर लाला दीनदयाल के ऊपर सब तरस खाते थे। सिपाहियों ने लाला दीनदयाल का घर भी घेर लिया। सबेरे का वक़्त था, वह दातुन-कुल्ला करके निपटे ही थे कि सिपाहियों को दरवाज़े पर देखकर हैरान हो गए। हे परमात्मा! क्या मामला है! लेकिन सिपाहियों में से एक ने, जो सिक्ख था और शीला की तलाशी में आया था, कह दिया—"भाईजी, आप न घबराएँ, दौड़ पड़ोसवाले मकान के लिये है। नसीबन को गिरफ़्तार करने आए हैं।" लालाजी के प्रश्न करने पर सिक्ख ने यही कह दिया कि आगे कुछ नहीं मालूम। लालाजी को विश्वास हो गया, उन्होंने कहा—"सरदारजी, कुछ जल-पान करो।" मगर उसने इनकार कर दिया और लालाजी से घर जाने को कह दिया।

कोतवाल साहब नसीबन के दरवाज़े पर खड़े-खड़े सोच रहे थे कि नसीबन को ग़ायब कर दें, और जितने दिनों में लिखा-पढ़ी होगी, मामला बन जायगा। मगर सिक्ख सिपाही, जो नसीबन की ताक में था, वहाँ आ पहुँचा, और अपने हवलदार की इजाज़त लेकर

आवाज़ देता हुआ अंदर दाखिल हो गया। घर की स्त्रियाँ अंदर हो गईं, और नसीबन एक छोटे बच्चे को सामने खड़ा किए हुए दरवाज़े से झाँकने लगी। उस वक़्त वह बुर्क़ा नहीं पहने थी। सिक्ख ने फ़ौरन् लड़के को अंदर जाने का हुक्म दिया, और पीछे खड़े होकर उसके घर जाने का रास्ता रोक दिया। नसीबन ने इस बात पर कुछ ध्यान न दिया, और बेपरवा खड़ी रही।

सिक्ख ने हवलदार को आवाज़ देकर कुछ और सिपाही बुला लिए, और नसीबन से कोतवाली चलने को कहा।

नसीबन सुनकर वहीं खड़ी रह गई, और अपने दुपट्टे के पल्ले से मुँह ढककर नाज के बोरे की तरह ज़मीन पर गुड़मुड़ बैठ गई।

सिक्ख ने कहा—"उठो, तुम्हारी गिरफ़्तारी निकली हुई है, तुम्हें कोतवाली चलना पड़ेगा। अपना बुर्क़ा मँगा लो।" उसी बच्चे को आवाज़ देकर बुर्क़ा मँगा लिया, और उसके सिर पर डाल दिया।

नसीबन ने सोचा, अब चुप रहने से काम न चलेगा। उसने कहा—"कौन मुआ मुझे क़ैद करेगा। शरीफ़ घर की बी-बेटी पर जम से आ चढ़े।"

सिक्ख के सामने शीला की वारदात का नक़्शा फिर रहा था। उसने उसी रोज़ देख लिया था कि कोतवाल साहब कितनी बेदर्दी से छोटी-सी लड़की को डाँट रहे थे, और आज कैसे चुप खड़े हैं। मुसलमान तो अपनी ज़ात पहले और सरकार का काम पीछे समझते हैं, यही नमकहलाली है। सिक्ख ने कई दफ़ा कहा, मगर नसीबन टस से मस न हुई, और बड़बड़ाती रही। आख़िर कोतवाल साहब ने आकर सिक्ख को डाँटा, और नसीबन से कहा—"बड़ी बी, कोतवाली तक चलो, काम है। वहाँ सारा क़िस्सा बतला दूँगा।"

नसीबन कोतवाल साहब की आवाज़ पहचान गई, और उनके

कहने पर उठी, बुर्क़ा पहना, अंदर घर की तरफ़ जाने लगी, मगर मना करने पर रुक गई, और धीरे से कहा—"नन्हे मियाँ से ज़रा पान लगवाकर मँगवा लो, और साथ में तंबाकू भी लेते आना।" सिपाहियों को उसकी बहादुरी पर ताज्जुब होता था, उन्होंने ऐसी दिलेर औरत कभी न देखी थी। जिसकी गिरफ़्तारी निकल रही हो, वह इस तरह निडरपन से काम ले। ज़रूर कोई बनी हुई औरत है।

कोतवाली ले जाकर उसे रात-भर हवालात में रखकर अगले दिन सिपाहियों के साथ लायलपुर रवाना कर दी गई। लायलपुर-वाला सिपाही भी ख़ुफ़िया-भेष में कोतवाल साहब से मिलकर उलटे उन्हीं के साथ लौट गया।

लायलपुर-कोतवाली में साहब और सरदारजी के सामने नसीबन बुर्क़ा पहने हुए बैठी थी। उसके गाँव का सिपाही भी मौजूद था। साहब ने नसीबन का बयान लेने के लिये प्रश्न करने शुरू कर दिए। नसीबन से जितने सवाल किए गए, उसने 'नहीं' में ही उत्तर दिया। उसके बयान से साबित हो गया कि न तो उसका पहला नाम करीमन था, न उस गाँव की रहनेवाली थी, न मोहम्मद-जान उसका मालिक था, और न अली और शरीफ़ उसके बेटे थे। साहब को उसके बयान पर बहुत आश्चर्य हुआ। मुक़दमे के लिये कुछ भी मसाला नहीं मिला। सिपाही को बुलाकर पूछा—"क्या तुमने पहचान लिया?"

"जी सरकार, रेल में कई दफ़ा मैंने इसके चेहरे की तरफ़ देखा, मुझे करीमन ही मालूम होती है। बिलकुल उसी की-सी सूरत-शकल है।"

सरदारजी ने कहा—"हम लोगों की वजह से तो तुम नहीं कह रहे हो। तुम्हें डरना नहीं चाहिए। अगर वाक़ई तुम इसे पहचानते हो, तो कहना।"

सिपाही ने बेधड़क होकर कहा—"हाँ सरकार, मेरी राय में यह

करीमन हैं, अली और शरीफ़ इसी के बेटे हैं। मेरी आँखें धोखा नहीं खा सकतीं। यह औरत झूठ बोलती है।"

सिपाही ने बयान देते हुए 'करीमन, करीमन,' की आवाज़ देकर पुकारा, मगर नसीबन ख़ामोश रही। सब लोग परेशान थे कि ऐसी औरत के बारे में क्या करना चाहिए।

सरदारजी ने साहब की सलाह लेकर नसीबन का बयान डिप्टी साहब के सामने लेना चाहा, और नसीबन को साथ ले उनके मकान जा पहुँचे। जो कुछ बयान दिया था, वह सरदारजी ने पढ़ा, और नसीबन से पूछा—"क्या यह सच है?"

नसीबन ने परदे से कहा—"मैं क्या जानूँ, आपने अपनी समझ से न-जाने क्या-क्या लिख लिया है। मैं इतना ही बयान दूँगी कि मेरा इस जहान में कोई भी नहीं है, अकेली पैदा हुई, और अकेली ही मरूँगी। हाँ, इतना कह सकती हूँ कि आप जिस मामले के लिये कोशिश कर रहे हैं, उसका पता लगा सकती हूँ, या बतलाने की कोशिश करूँगी।"

साहब ने डिप्टी साहब से बातचीत करने के बाद सरदारजी को हुक्म दिया कि मामला बतला दें। सरदारजी ने शीला के ग़ायब होने का सारा क़िस्सा सुना दिया। अंत में कहा—"वीरेश्वर बिलकुल निर्दोष है, तुम्हें यदि मालूम है, तो बतलाओ।"

नसीबन ने कहा—"यही मामला है, तो मैं आपको उस हालत में बतला सकती हूँ, जब आप यह वादा करें कि मेरे लिये कोई जान-जोखों नहीं है। मेरा इस दुनिया में मुक़दमा लड़ने के लिये कोई नहीं। दूसरे लोग तो रुपया ख़र्च करके निबट जायँगे, फँसूँगी मैं। यही हाल वीरेश्वर के साथ हुआ था। बेचारा फँसा।"

साहब ने यक़ीन दिला दिया, और डिप्टी साहब ने भी कह दिया कि हम तुम्हें छोड़ देंगे। नसीबन ने कुछ देर सोचने के बाद कहा—

"शीला का मामला बड़ा भारी है। इसमें घर के ही आदमी फँसेंगे। आपको यह तो मालूम ही है कि शीला की शादी वीरेश्वर से होनेवाली थी, मगर शीला की मा नहीं चाहती थीं। मैं शीला की मा के पास उठा-बैठा करती थी, वह मुझे चाहती भी बहुत थीं। शीला का उन्हें बहुत दुःख था। अपने मुँह से कुछ नहीं कहती थीं। उनकी राज़ी भागमल से शादी करने की थी।"

डिप्टी साहब ने पूछा—"कौन भागमल?"

"भागमल लाला प्रभुदयाल सेठ का इकलौता लड़का है। सेठजी को शहर के सब आदमी जानते हैं। सेठजी असल में भागमल की शादी लाला दीनदयाल की लड़की के साथ करना चाहते थे, क्योंकि मैं शीला के साथ बातचीत कर लेती थी, और खूब जान-पहचान हो गई थी। मैंने उसकी बातों से यह नतीजा निकाला कि वह भागमल से कभी शादी नहीं करेगी। यह सारा हाल मैंने सेठजी से जाकर कह दिया। वह बहुत दुःखित हुए। मुझसे पूछा, क्या करना चाहिए। चलते समय उन्होंने पचास रुपए मुझे दिए।"

"सेठजी तुम्हें कैसे जान गए?" डिप्टी साहब ने यह सवाल पूछने में ख़ूब ज़ोर दिया।

"जानते क्या थे, जिसे अपना काम बनाने की तलाश होती है, वह जान-पहचान निकाल लेता है। मैं शीला के पड़ोस में रहती थी, सेठजी ने मुझसे ही भेद-भाव लेना शुरू किया।"

"शीला से एक दिन मेरी बातचीत हुई। वह रोने लगी। मैंने उससे कहा, ऐसी ज़िंदगी से तो मरना अच्छा। बस, उसी रोज़ रात को वह कुछ खाकर सो रही, और मर गई।"

साहब इस बात को सुनकर भौचक्के रह गए। सरदारजी भी ताज्जुब से नशीबन की तरफ़ देखने लगे। दोनो ने सोचा, मामला

बिलकुल उलटा हुआ, मगर डिप्टी साहब ने सवाल किया—"शीला की लाश कहाँ गई ?"

"इस सवाल का जवाब देने में ही खराबी पड़ेगी। मुझे यह हाल मालूम था। मैंने सेठ प्रभुदयाल से कह दिया। उन्होंने आधी रात को अपने आदमी भेज दिए। गली के बाहर ख़ुद खड़े रहे। भागमल अंदर घर में चला गया। शीला की लाश उठाकर गाँव के पास एक कुएँ में डाल दी, और उसे भरवा दिया। सारा क़िस्सा यों है।"

डिप्टी साहब ने पूछा—"वीरेश्वर कैसे फँसा ?"

"उस रोज़ वीरेश्वर बाहर गया था। बस, सेठजी ने उसी को पकड़वा दिया। पुलिस से जान-पहचान थी। मामला गँठ गया, वीरेश्वर को सज़ा हो गई। कुल क़िस्सा इतना है, और कुछ नहीं।"

डिप्टी साहब ने हलफ़िया बयान ले अँगूठा लगवा लिया, और हिरासत में रखने का हुकम दिया। साथ ही सेठ प्रभुदयाल की गिरफ़्तारी निकाल दी। भागमल के नाम भी वारंट था। वह साहब से बोले—"मामला अजीब है।"

प्रतिज्ञा-पालन

मजीदन उसी रात को, जिस रात अली और शरीफ़ ने निज़ामी साहब के पास ठहरकर खाना खाया था, अपने स्थान से रवाना हो गई थी। अकेले रहते-रहते उसका जी घबरा गया था। खाने-पीने का सामान सदा कम रहता था। अलबत्ता सोना, चाँदी, ज़ेवर और कपड़े बहुतायत से थे। इन बातों का दुःख इतना न था, जितना शरीफ़ के अत्याचार का। स्त्रियों के लिये संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो उन्हें लुभा सके, किंतु शर्त यह है कि उनके साथ प्रेम होना चाहिए। मजीदन प्रेम-रहित होने के कारण वहाँ से भाग निकली। उसने शाम को घर छोड़ा और अपने साथ कुछ खाना बाँध लिया था। पहनने के लिये एक मूँज का जूता, जो शरीफ़ ने नया बनाकर रक्खा था, ले लिया।

सारी रात उसे चलते-चलते बीत गई। सुनसान जंगल था। रास्ते में खार, खड्ड, पथरीले पहाड़ थे। कहीं-कहीं झाड़ियों की बाढ़ लगी हुई थी। ज़मीन ऐसी कँकरीली थी कि अनजान थोड़ी ही दूर में दो-चार ठोकरें खा जाय। मजीदन को कभी ऊँचे टीले पर चढ़ना, कभी नीचे उतरना और कभी यदि रास्ता साफ़ मिल गया, तो दौड़ना पड़ता था, ताकि अपने वैरी के फंदे से जितनी जल्दी हो सके, बाहर निकल जाय। उस रात को सबेरा इतनी जल्दी हो गया कि मजीदन आश्चर्य करती थी। यदि रात अँधेरी होती, तो मजीदन के लिये बहुत सुबीता रहता। चाँदनी रात होने के कारण मजीदन को एक-एक क़दम पर डर रहता था कि कहीं कोई देख न ले। उसने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि अँधेरे

में किसी पहाड़ी से उतरने में खार-खड्डु में गिरकर मरना अच्छा है, लेकिन दुबारा पकड़े जाने पर अधिक अत्याचार सहना कदाचित् स्वीकार नहीं। रास्ते-भर चंद्रमा की चाँदनी को कोसती जाती थी। अगर कहीं चंद्रमा बदली में आकर छिप जाता, और उसकी रोशनी कम हो जाती थी, तब उसे अधिक प्रसन्नता होती थी। ऐसा सोचते हुए उसने रात-भर सफ़र किया, और बीच में ज़रा भी न ठहरी। सबेरे पौ फटी, सूर्य की किरणें धीरे-धीरे रेतीले मैदान पर चमकने लगीं। पेड़, टीले, रास्ते, झाड़ियाँ इत्यादि मजीदन को सब दिखलाई देने लगे। मगर किसी झोपड़ी और मकान का निशान कोसों तक न था। मजीदन को मालूम था कि ऐसे स्थानों में चोर, डाकू, लुटेरे रहा करते हैं। न-जाने कहाँ से कोई निकल आवे, और हमला कर दे। एक से पीछा छुड़ाने का यत्न किया, और दूसरे के साथ चलना पड़े। पैरों ने जवाब दे दिया था। चलने का साहस करती थी, लेकिन पैर लड़खड़ाते थे। आखिर थककर रास्ते से अलग एक खड्डु में बैठ गई, जहाँ पानी बरसने के कारण कुछ ठंडक भी थी, और एक गड्ढे में पानी भी भरा हुआ था। उसने अपने दुपट्टे के पल्ले में बँधी हुई गाँठ खोलकर, एक रोटी निकालकर खाई, पानी पिया, और स्वयं अपनी टाँगें दाबने लगी। पैरों की तरफ़ जो देखा, तो उसे बड़ा रोना आया। तलवों में छाले पड़े हुए थे। कई जगह ककड़ियाँ घुस गई थीं, अनगिनती काँटे लग चुके थे। गरमी के कारण उसने पैरों को धोया, और दुपट्टे से चीर फाड़कर पैरों में बाँध लिया। उसने फिर चलने का विचार किया, लेकिन इस डर से कि कहीं पकड़ी न जाऊँ, वहीं सोच में बैठ गई, और सिर घुटनों पर रखकर आगे-पीछे हिलने लगी।

झूलते-झूलते उसे नींद के-से झोंके आने लगे, और वह पत्थर के सहारे वहीं सो गई। धूप भी तेज़ी पकड़ने लगी, मगर

मजीदन इतनी हारी-थकी थी कि धूप का प्रभाव कुछ भी नहीं पड़ा, और सोती रही। एक दम चौंककर उठ बैठी। आँखें मलकर क्या देखती है कि सूर्य अस्त हो चुका है, और वह वहीं पड़ी हुई है। तुरंत उठी, और सीधी आगे को बढ़ चली। रास्ते में उसे बड़ा भय था। उसे पूरा विश्वास था कि आज रात को अवश्य पकड़ी जाऊँगी। बहुधा शरीफ़ से सुना करती थी कि वे लोग किस तरह रात-भर में अस्सी-अस्सी मील दौड़कर घर लौट आते थे। उसे दृढ़ विश्वास था कि शरीफ़ रास्ते में ही पकड़ लेगा, और उसी दम लौटाकर ले जायगा। उसके अत्याचार से चाहे रास्ते में जान ही क्यों न निकल जाय, तेज़ ही भागना पड़ेगा। बस, यही धारणा उसने अपने मन में बाँध ली, और सोच लिया कि कोई शक्ति उसे ज़बरदस्ती भगाकर ले जा रही है, और उसे भागना पड़ रहा है। जिस प्रकार पागल आदमी अपनी ज़ुंग में ऐसे काम कर बैठता है, जिसे बड़े बहादुर आदमी नहीं कर सकते, उसी तरह मजीदन ने भी किया। जान का ख़तरा पूरा था। उसने चलते-चलते मरना अच्छा समझा, और पकड़े जाने या दुःख उठाने के भय से कभी-कभी दौड़ लगा लेती थी। जब कोई क़ैदी अंडमन में अधिकारियों के अत्याचार से दुःखित हो, अपनी नाव बनाकर, समुद्र में डालकर अपने देश में पहुँचने की चेष्टा करता है, तो उसे यह बिलकुल ही ध्यान नहीं रहता कि उसकी नाव को समुद्र की मामूली लहर भी लौटा सकती और जीवन का अंत कर सकती है, मगर उसे स्वप्न में भी ख़याल नहीं होता। अगर कोई बात असर करती है, तो यही कि अपनी जान बचाने की आशा में वह अपने को अथाह समुद्र के अर्पण कर अधिकारियों के अत्याचार से छुटकारा पाता है। यही हाल मजीदन का था। अपने दुःखों का निवारण करने की आशा में वह रात-भर चलती ही

रही, और रास्ते के सारे दुखों को लेश-मात्र भी ध्यान में न लाई।

दिन निकलने पर उसने सामने दो झोपड़े देखे। वे एक टीले पर बने हुए थे। झोपड़ों के सामने बैल भी बँधे हुए दिखाई पड़ते थे। पास ही खेत भी थे, जिनमें नाज उग रहा था। उसे साहस हुआ कि उन झोपड़ों की ओर जाय और उनकी शरण ले। यदि वहाँ डाकू हुए, तो ज्यों-की-त्यों रही। अगर उनमें कुछ मनुष्यता हुई, तो मेरे हाल पर अवश्य कृपा करेंगे, और जब मैं अपनी कथा सुनाऊँगी, तो मेरे साथी बन जायँगे। रह-रहकर उसे यह भी भय होने लगता था कि कहीं मुसलमान हुए, तो अवश्य मेरी मिट्टी बिगाड़ेंगे। जैसे ही वह खेत के पास पहुँची, रुक गई, उसके पैर वहीं जम गए। आगे जाने का साहस भी किया, परंतु मजबूर थी। वह वहीं खड़ी रह गई, और अपने चारो ओर देखने लगी। कभी झोपड़ियों की तरफ़ टकटकी बाँधकर देखती थी, कभी बैलों को। खड़े-खड़े उसने सोचा, यहाँ के रहनेवाले चाहे चोर हों या बदमाश, इनसे बचकर जाना असंभव है। अब इन्हीं का शरण लेनी पड़ेगी। इसी विचार के आधार पर वह आगे बढ़ी, और फिर रुक गई। ऐसे ही सोचते-सोचते वह कभी आगे बढ़ जाती थी, कभी रुक जाती थी। अब वह झोपड़ों से इतनी दूर रह गई थी कि वहाँ से आदमियों और स्त्रियों को खड़े हुए देख सकती थी, और उनकी ज़ोर की आवाज़ भी सुन सकती थी। यहाँ से आगे बढ़ने का साहस उसे नहीं हुआ।

झोपड़ों के पास खड़े हुए आदमियों में एक स्त्री भी थी, जिसे मजीदन ने उँगली का इशारा करते हुए देखा था। वह वहाँ से खेतों की तरफ़ आई, और फ़िर मजीदन के निकट आने लगी। उसे देखकर मजीदन के पैर काँपने लगे। वह फ़ौरन् उसके पैरों पर गिर पड़ी।

अपना सिर उसके पैरों पर रखकर बोली—"बहन, तुम्हारी शरण हूँ। तुम बचाना चाहो, बचा सकती हो। मैं तुम्हारे ही ऊपर निर्भर हूँ।"

बहन का शब्द सुनकर उसने मजीदन को दोनो हाथों से ऊपर उठाया और कहा—"बहन की तरह मिल तो लो।" मजीदन फूट-फूटकर रोने लगी, मानो वह अपनी सगी बहन से मिल रही हो। उसके आग्रह करने पर मजीदन झोपड़ों की तरफ़ चल दी। वह उसे मकान में ले गई। वहाँ पीढ़े पर बिठाकर उसने कहा—"मैं अपनी मा को बुला लाऊँ, तुम यहीं मौज से बैठी रहना।" वह दौड़ी हुई मा को बुला लाई, और मजीदन को गले लगाकर बोली—"मा, मेरी मजीदन एक और बहन है। छोटी या बड़ी, यह तुम तय करोगी।" मजीदन ने अपनी बहन की बात ख़त्म होने पर मा को सलाम किया, और उसके कहने से फिर पीढ़े पर बैठ गई।

मा कुछ प्रश्न करना चाहती थी, लेकिन उसकी बेटी ने मना कर दिया। अंदर से एक पिटारे से नया जोड़ा निकालकर लाई, और मजीदन को पहनने के लिये दिया। उसने मैला जोड़ा वहीं उतारकर रख दिया, हाथ-मुँह धोया, और जब शांति से बैठ गई, तब दोनो बहनों ने मिलकर खाना खाया। खाते वक़्त एक दूसरे से अधिक बात-चीत नहीं हुई। शलजम की तरकारी, मठा, लोनी और मोटी-मोटी गेहूँ की रोटियाँ थीं, जिन्हें मजीदन ने बहुत ख़ुशी से खाया। खाने के बाद दोनो अंदर झोपड़े में जाकर लेट गईं, और एक दूसरे से बातें करने लगीं। थोड़ी ही देर के मिलाप में दोनो में इतनी मित्रता और प्रेम हो गया था, जिसकी कोई सीमा नहीं। मजीदन ने पूछा—"बहन, तुम्हारा नाम क्या है?"

इस प्रश्न को सुनकर वह हँसी और कहा—"नूरन।"

"क्या मैं तुम्हें नूरन कहकर पुकारा करूँ?"

"बड़ी ख़ुशी से।"

मजीदन के होठों पर मुस्किराहट झलकने लगी, लेकिन उसने एक ठंडी साँस ली, और मन में सोचा, क्या मैं सदा ऐसी प्रसन्न रह सकती हूँ। 'यह दशा देख नूरन समझ गई कि मेरी बहन को कुछ दुख ज़रूर है। उसने हिचकते हुए मजीदन से कहा—"अगर तुम बुरा न मानो, तो मैं कुछ पूछूँ।"

मजीदन ने कहा—"तुम्हें न बतलाऊँगी, तो किसे बतलाऊँगी।"

"तुम यहाँ कैसे आई?" नूरन पूछकर उसका मुँह ताकने लगी।

"बहन, कुछ न पूछो, मेरी कहानी अजीब है।" कहकर उसने संक्षेप में सारा हाल—किस तरह भागी, और डाकुओं से पीछा छुड़ाया सुना दिया। नूरन की आँखों से आँसू निकलने लगे।

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"क्या करोगी पूछकर। बहन, मैं तुमसे सारा हाल कह दूँगी। अब मुझे नींद लग रही है, सो जाने दो। तुम्हारे आसरे हूँ, जो कुछ पूछोगी, सब बतलाऊँगी।"

नूरन ने खाट उसी के लिये छोड़ दी, और बाहर चली आई। उसने अपनी मा से पूछा—"तुमने मेरी बहन को देखा?" मा ने हँसकर कहा—"बस, खूब जोड़ा मिला है। दोनो एक-सी मिल गई।" नूरन सुनकर चुप हो गई। वह जानती थी कि उसकी ख़ूबसूरती की शोहरत दूर-दूर है। यही वजह थी कि उसकी शादी एक ज़मींदार के लड़के से हुई थी। वह भी बड़ा बहादुर और जवान आदमी था। कई गाँव का मालिक था। दूसरा झोपड़ा उसके मालिक का था। नूरन ने अपनी बहन के कपड़े धोए। ज्यों ही दुपट्टा पानी में डालने लगी, गाँठ में कुछ बँधा हुआ दिखाई दिया। वही बची हुई रोटी थी, जिसे मजीदन घर से बाँधकर चली थी। नूरन कपड़े खूँटियों पर टाँग रही थी कि उसके बाप और भाई आ गए। बाप ने पूछा—"बेटी नूरन, यह जोड़ा किसका है?"

"मेरी बहन का। तुमने नहीं देखी! वही है, जो खेत में खड़ी थी, और मैं लेने गई थी।" नूरन अपने बाप का हाथ पकड़कर छप्पर में ले गई, और दूर से ही दिखला दिया कि वह है। बाप ने लौटकर कहा—"बेटी, मेरे तो तू एक ही लड़की थी, मगर सूरत बिलकुल तेरी-सी है। ख़ुदा ने अच्छा किया। यह कहाँ से आई है?"

नूरन ने उन्हें जवाब दे दिया, और बोली—"बाप, अगर कुछ झगड़ा पड़ा, तो तुम तैयार रहोगे?"

बाप ने ज़ोर से खाँसकर कहा—"क्यों नहीं बेटी, जैसा तू कहेगी, वैसा ही मैं करूँगा। इस बात से न घबराना।" नूरन के भाई ने भी यही कहा। नूरन सुनकर बड़ी ख़ुश हुई।

मजीदन शाम तक बराबर सोती रही। नूरन उठाना चाहती थी, लेकिन मा के मना करने पर मान गई। जब चिराग़ जल गए, तब मजीदन एकदम चौंक उठी, और चिल्ला उठी—"ले चले, ले चले, आ गए।"

नूरन दौड़ी हुई खाट के पास पहुँची, और अपनी बहन को जगाकर बोली—"क्या है?"

मजीदन ने दोनो हाथ अपनी बहन की गरदन में डाल दिए, और बोली—"मैं स्वप्न देख रही थी। वे ही दोनो डाकू, जिनके घर से भाग आई हूँ, मेरे पीछे दौड़े, और मुझे पकड़कर घसीटने लगे। मैंने मना किया। उन्होंने मुझे ख़ूब मारा। इतने में मैं चिल्ला पड़ी, और आँख खुल गई।"

नूरन ने उसे तसल्ली दी, और कहा—"बहन, यहाँ डरने की कोई बात नहीं। दो डाकू क्या, दस भी कुछ नहीं कर सकते। मेरे मालिक को तुमने नहीं देखा। उसके डर के मारे अच्छे-अच्छे काँपते हैं। और, दो डाकुओं के लिये तो मैं ही काफ़ी हूँ। सुन लो मजीदन! तुम्हारा बाल बाँका तब होगा, जब मैं मर जाऊँगी, मेरा

मालिक, मेरे मा-बाप और भाई मर जायँगे। ऐसा होना मुश्किल है। तुम किसी तरह न घबराओ।"

मजीदन ख़ामोश हो गई, और नूरन के साथ उठकर, बाहर आ गई। मा के कहने पर उसने रोटी नहीं खाई, और कह दिया, जब बाप खा लेंगे, तब बहन के साथ खाऊँगी। बाप आ गए, दोनो बहनों ने खाना खिलाया। मजीदन से वह जो सवाल करते थे, जवाब देती जाती थी। उनके हँसने पर मजीदन ख़ुद भी हँस पड़ती और अपनी बहन की तरफ़ देखकर, नीची निगाह कर बैठ जाती थी। बाप ने रोटी खाकर कहा—"मजीदन को ख़ूब दूध पिलाना। नूरन, आज तुम दूध न पीना।" इसका जवाब नूरन देना ही चाहती थी कि मजीदन तुरत बोल उठी—"आपको ख़बर भी न होगी, हम दोनो बहन कैसे ही पिएँ।" इस पर नूरन हँस पड़ी, और अपने बाप से बोली—"सुन लिया जवाब!" बाप बहुत हँसे, और यह कहकर कि अच्छा बेटियो, बाहर चले गए। भाई भी उनका हुक़्क़ा लेकर पीछे से बाहर चला गया।

रात को सोने का समय आया। नूरन अपनी मा से बोली—"मैं और बहन साथ-साथ सोवेंगे। मा, खाट तुम ले लेना। पलँग हमारे लिये ख़ाली रह जायगा।" मा ने कहा—"जैसे तुम चाहो, मैं तो चटाई पर भी पड़ सकती हूँ।" यद्यपि मजीदन नए घर में आई थी, किंतु उसे आधे ही दिन में किसी का भय न रहा। उसे लेश-मात्र भी गुमान न था कि मेरे साथ इतना अच्छा सलूक होगा। पड़ते ही दोनो को नींद आ गई।

अगले दिन सुबह सब उठे। मजीदन भी हँसती हुई उठी। उसके कल और आज के चेहरे में बड़ा अंतर था। नूरन के मालिक प्रतिदिन सबेरे अपनी सास को सलाम करने आते थे। वह भी मौजूद थे। मजीदन ने नूरन की तरफ़ इशारा करके कहा—"यह

कौन है ?" नूरन ने हुश करके, तिरछी निगाह से देख, मुस्किराकर टाल दिया। मजीदन समझ गई कि उसका मालिक है। नूरन के पास जाकर उसने पूछा - "तुम्हारे मालिक का क्या नाम है ?"

नूरन ने मजीदन का हाथ झटक दिया, और कहा—"बहन, तंग न करो। मैं तुमसे अब नहीं बोलूँगी।" इतने में नूरन की मा बोली—"शेरख़ाँ, बैठो, कुछ खाकर जाना।" और वहीं से आवाज़ दी—"बेटी मजीदन, तुम्हीं बाहर आ जाओ।" मजीदन का नाम सुनते ही नूरन हँस पड़ी, और कहा—"जाओ, तुम्हें अपनी हँसी का खूब बदला मिला।"

"क्या हर्ज है, मा बुलाती हैं। अपने जीजा के ही पास तो जा रही हूँ। तुम्हें तो अपने मालिक के पास जाने में डर लगता है, और किसके पास जाओगी ?" नूरन ने कहा—"मैं भी अपने जीजा के पास जाऊँगी।" यह सुनकर मजीदन चुपचाप चली गई, और मा के कहने पर एक लोटे में लस्सी भरकर लाई, दूसरे हाथ में गिलास था। मुँह दूसरी तरफ़ करके गिलास शेरख़ाँ को दिया, और लोटे से मठा उँड़ेलने लगी। शेरख़ाँ के हाथ में गिलास था, लेकिन निगाह दूसरी तरफ़ थी। मजीदन का भी यही हाल था। मठा गिलास में पड़ने के बजाय ज़मीन पर पड़ा। शेरख़ाँ चौकन्ने हो गए। मजीदन को हँसी आ गई, और नीची निगाह कर धीरे से मठा उँड़ेलने लगी। मा ने दोनो की हालत देखकर कहा—"क्या है ? तुम जीजा, वह साली।" शेरख़ाँ ने मठा पीते हुए पूछा—"यह कौन है ?" मा ने उत्तर दे दिया—"नूरन की बहन, तुम्हारी साली।" मगर आग्रह करने पर सारा हाल कह सुनाया। शेरख़ाँ ने कहा—"तो आज बंदूक़ सँभाल लूँ, देखूँ, कौन मेरी साली पर हाथ लगाता है ?"

शेरख़ाँ बातें कर रहे थे कि दरवाज़े पर एक आदमी आया, और उसने खिड़की की कुंडी खटखटाकर कहा—"किवाड़ खोलो।"

शेरखाँ ने उठकर किवाड़ खोले, और उस आदमी को देखकर पूछा—"तू कौन है ?"

आदमी ने जवाब दिया—"मैं मुसलमान हूँ, मेरी बीवी भागकर यहाँ आ गई है, और आपके पास है। मैं उसे वापस चाहता हूँ।"

"तेरा नाम क्या है ?"

"शरीफ़।"

शेरखाँ अंदर गया और बोला—"शरीफ़ नाम का आदमी आया है। वह कहता है कि मेरी बीवी मजीदन यहाँ है, वापस दे दो।"

मजीदन सुनते ही काँप गई और ग़श खाकर गिर पड़ी। नूरन ने आकर सँभाला और धीरे से कहा—"इस नाम का आदमी मजीदन ने डाकू बतलाया था। उसे पकड़ लो।"

शेरखाँ बाहर गया और शरीफ़ से पूछा—"वह कैसे भाग आई ?"

शरीफ़ ने कहा—"बड़ी बदमाश औरत है।"

शेरख़ाँ ने कहा—"कहते तो ठीक हो। हाँ भाई, तुम करते क्या हो ?"

"तिजारत।"

"ज़ात कौन हो ?"

शरीफ़ ने कहा—"मुसलमान।"

"रहते कहाँ हो ?"

शरीफ़ ने अपने रहने का पता सरहद पर बतलाया।

शेरख़ाँ ने कहा—"सरहद पर तो वज़ीरी, अफ़रीदी या पठान रहते हैं। तुम किनमें से हो ? मुसलमान तो धुना, जुलाहे, क़साई, मिरासी सब हैं। तुम बतलाओ कौन हो ?"

शरीफ़ ज़रा बिगड़ने लगा और अकड़पन से बोला—'आपका क्या मतलब ? आप मेरी बीवी दे दीजिए।"

शेरख़ाँ ने मूछों पर ताव देकर कहा—"बीवी लोगे ? ठहरो।" और

फ़ौरन् ही उसका बायाँ पहुँचा पकड़ लिया। शरीफ़ ने छुड़ाने की कोशिश की; क्योंकि यह भी पुलिस में रह चुका था। मगर एक पठान के सामने क्या कर सकता था? मजबूर होकर उसने अपनी कमर से छुरा निकाला और हमला करना चाहा। शेरखाँ ने दूसरे हाथ को झटका देकर छुरा गिरा दिया, और बाएँ हाथ को झटका देकर मुँह के बल धर पटका। इतने में उसका साला आ गया, और ग़ुस्से में बोला—"शेरखाँ, हट जाओ, मैं ठीक कर लूँगा।"

शरीफ़ नीचे पड़ा हुआ ग़लग़ल करता हुआ 'अली भाई, अली भाई' पुकार रहा था। मगर अली भाई शरीफ़ को नीचे गिरते हुए देख उलटे पाँव भाग निकले और अपने घर का रास्ता पकड़ा। शरीफ़ को बाँधकर पेड़ के नीचे डाल दिया और सारा कुटुंब उसके पास आ बैठा। मजीदन ने एक-एक करके उसके अत्याचार सुनाए। एक बात पर एक लात शरीफ़ के मार दी जाती थी। उसको ग़ुस्सा आ-आकर रह जाजा था, मगर बेबस था। मजीदन ने अपनी बहन से कहा—"यह आदमी अगर कोल्हू में भी पिलवा दिया जाय, तब भी कम सज़ा है।"

अली भाई वहाँ से भागकर एक दूसरे गाँव में पहुँचे, जो क़रीब पंद्रह मील पर था। वहाँ भी पठानों की बस्ती थी। अली वहाँ के मालिक को जानता था। सरहद में मालिक नंबरदार को कहते हैं, जिसका अधिकार गाँववालों पर होता है। अली के कहने पर वह राज़ी हो गया, और कहा—"अगर तुम ठीक कहते हो, तो मैं अपने कबीले के साथ चलूँगा, और अपना एलची भेजकर सारा मामला तय करा दूँगा।"

सरहद में एक विचित्र रिवाज है। पुलिस से जो मुसलमान सिपाही निकाल दिए जाते हैं, या जिन्हें सज़ा हो जाती है, वे भागकर सरहद पर रहने लगते हैं और वज़ीरों या अफ़रीदों से मिल जाते

हैं। वज़ीरों और ऐसी-जैसी सरहदी क़ौमों का काम सरकारी मुल्क पर लूट-मार मचाने का होता है। भागे हुए सिपाही उन्हें सारा पता और खोज दे देते हैं। बंदूक़ से मरना एक वज़ीरी क़ुरबानी समझता है। इन सिपाहियों की सहायता से उन लोगों को बड़ी मदद मिलती है। अली भी उन्हीं में से था, क्योंकि उसका भाई शरीफ़ पहले सिपाही था। पठान लोग ऐसी जगह रहते हैं, जहाँ सरकारी हद होती है। उनमें बहुत-से सरकार से मिले रहते हैं, और बहुत-से वज़ीरों से। दोनो हालत में वे अपना फ़ायदा देखते हैं, मगर आपस में लड़ना अच्छा नहीं समझते, जब तक कोई ख़ास बात न हो जाय। अली ने मालिक पर ऐसा रंग चढ़ाया कि वह अपने आस-पास के अस्सी आदमी लेकर शेरख़ाँ पर शाम के वक़्त आ चढ़ा, और गाँव के बाहर एक पेड़ के नीचे सब ठहर गए।

शरीफ़ के सबेरे पकड़े जाने पर नूरन के बाप ख़ुद पास के थाने में चले गए थे, और उन्हें ख़बर देकर लौट आए थे। थानेदार ने साथ में बीस सिपाही कर दिए थे, जिनके पास बंदूक़ें और काफ़ी कारतूस थे। पुलिस को शरीफ़ के पकड़े जाने की बड़ी ख़ुशी थी, क्योंकि तीन ही साल में उसने बड़े-बड़े डाके डाले थे, और उसका ज़ुल्म भी मशहूर हो गया था। सरकार ने वारंट भी निकाल दिया था। सरहदी सूबे में लोग उससे काँपते थे।

पुलिस ने आते ही शरीफ़ के हाथों में हथकड़ी डाल दी। वे लोग रात को लौट भी जाते, मगर सामने आदमियों का जमघट देख समझ गए कि आज कुछ होने को है। सबने अपनी-अपनी बंदूक़ें सँभालीं, और आगे बढ़ने को तैयार हो गए। शेरख़ाँ भी अपनी बंदूक़ लेकर आ गए। नूरन के बाप ने पुलिस को रोका, और कहा—"आप जल्दी न करें। उधर के आदमी अपने ही क़बीले के मालूम होते हैं। पहले मैं जाकर देखूँ, अगर उनके जी में लड़ने की आ गई, तो लड़ लेंगे।"

शेरख़ाँ ने कहा—"मैं जाऊँगा।" मगर उसका साला ज़िद कर रहा था कि मैं जाऊँगा बाप ने सबको समझा दिया, और कहा—"तुम्हें मरने का डर है। अगर मैं मर गया, तो तुम बदला ले लेना। मैं बुड्ढा हूँ। हम लोग काफ़ी हैं। देखूँ, वे सब किस नीयत से आए हैं।" बाप कहकर उनकी तरफ़ चले, और पीछे से सब लोग तैयार हो गए। उनके पास जाकर बेधड़क कहा—"मैं आपके मालिक से मिलने आया हूँ। व्यर्थ ख़ून बहाने से क्या फ़ायदा?"

मालिक उनके पास आया। दोनो पहले से एक दूसरे को जानते थे, हाथ मिलाए। बातचीत हुई। मालिक ने कहा—"हम आपसे लड़ना नहीं चाहते। शेरख़ाँ के ख़ून के प्यासे हैं।"

"शेरख़ाँ! वह मेरा जमाई है। पहले मुझे मार दो, ताकि मैं उसे मरता हुआ न देख सकूँ।"

"नहीं, आपसे हमारी दुश्मनी नहीं। आपसे वह लड़की, जो भागी हुई है, वापस लेनी है। मगर शरीफ़ को पकड़ने के जुर्म में शेरख़ाँ को लड़ना पड़ेगा।"

"शेरख़ाँ तैयार है। उसे बिलकुल एतराज़ नहीं। मगर आपको मालूम है, वह लड़की कौन है?"

"शरीफ़ की बीवी।"

"अगर शरीफ़ की बीवी है, तो आप मेरे साथ चलें। मैं उसे बुलाकर आपके सामने पूछूँगा। अगर राज़ी हो, तो ले जाना, वरना आपको छोड़ना पड़ेगी।" मालिक राज़ी हो गए, उनके साथ आए और मजीदन को बुलाकर कहा। मजीदन ने इनकार ही नहीं किया, बल्कि कह दिया—"वहाँ ले जाने के बजाय मुझे यहीं जान से मार दो और इस शरीफ़ के ज़ुल्मों से बचाओ। जैसा उसका नाम है, वैसे ही उलटे काम हैं।"
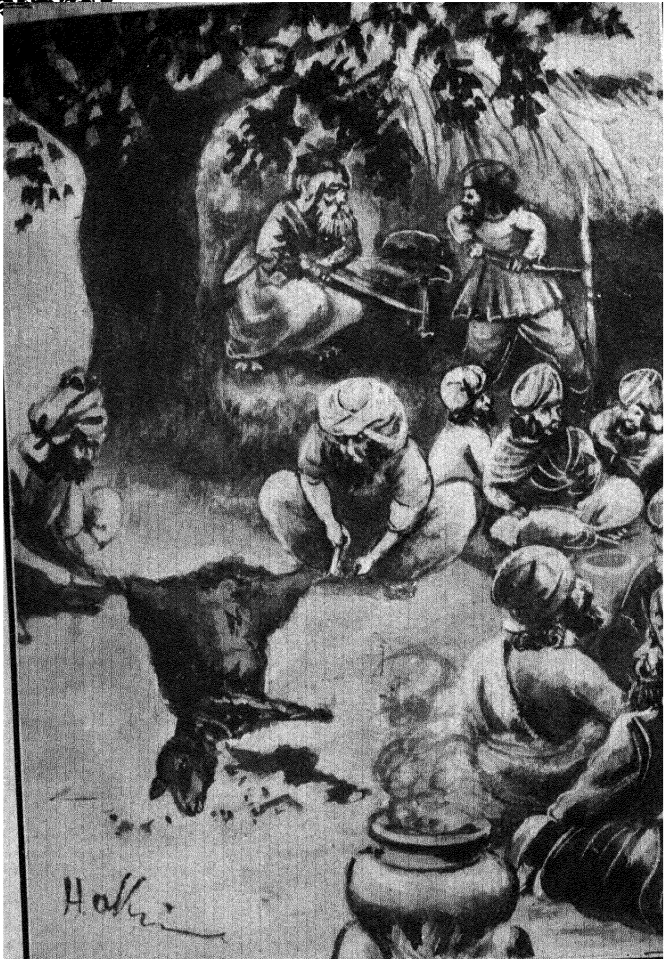
आख़िर भेड़ें काटी गईं, खूब खाई गईं, और लड़ाई की तैयारी की गई।

(पृष्ठ-संख्या १८२)

मालिक सुनकर घबराए। क्या करना चाहिए? उन्होंने कहा—"शरीफ़ को छोड़ दो।"

उसका जवाब यही था—"पुलिस से ले लो। अगर शरीफ़ को लेना है, तो पुलिस से लड़ो। उसका वारंट है।"

"मगर पकड़ा शेरखाँ ने है। उसका क़सूर है, उससे ही लड़ाई ठनेगी।"

शेरखाँ अपना नाम सुनकर वहाँ आया। सलाम किया, और बोला—"मैं लड़ने को तैयार हूँ। आप लौटिए। मैं आप लोगों से इस तरह नहीं लड़ता। आप भूखे होंगे। मैं भेड़ें भेजता हूँ। उन्हें मेरे बुज़ुर्गों की क़ब्रों पर काटकर और वहीं पकाकर खा लेना। फिर मैं लड़ूँगा। इतना और कहे देता हूँ, सोच-समझकर करना।"

मालिक चुप लौट गए। शेरखाँ ने उनके लायक़ भेड़ें साथ कर दीं। वहाँ पहुँचकर उन्होंने मशविरा किया। मालिक साहब की सलाह भेड़ों के काटने की न थी, क्योंकि उनके यहाँ भी भेड़ को क़ब्र पर रखकर काटना ऐसा था, जैसा अपने बुज़ुर्ग को क़त्ल करना। उन्होंने समझाया, मगर अली पहले से सबके कान भर चुका था। मालिक के सामने रोया। आख़िर भेड़ें काटी गईं, ख़ूब खाई गईं, और लड़ाई की तैयारी की गई।

मजीदन घर में बैठी रो रही थी। उसे अपने ऊपर रह-रहकर रोना आता था। न मैं आती, न लड़ाई होती। इससे तो मैं मर जाऊँ, तो सबकी जान बचे। वह रोती हुई नूरन के पैरों में गिर पड़ी, और सुसकी लेकर बोली—"मुझे मार डालो। ख़ून बहाना ठीक नहीं। मेरे जीने से क्या फ़ायदा? एक बात मेरी सुनो। मुझे बीच मैदान में खड़ा कर उन्हीं के सामने गोली से उड़ा दो। सारा झगड़ा मिट जायगा। बहन, मैं नहीं चाहती कि तुम्हें या तुम्हारे किसी रिश्तेदार को किसी प्रकार का कष्ट उठाना पड़े।"

नूरन ने उसे समझाया, और कहा— 'तुम घबराओ नहीं, सब ठीक हो जायगा। देखो, क्या होता है। अभी भेड़ें भेजी हैं, अगर खा लीं, तो लड़ाई छिड़ेगी।"

दोनो बहनें बातें कर रही थीं कि नूरन के भाई ने आकर ख़बर दी--"भेड़ें कट गईं। लड़ाई होगी, पुलिस भी तैयार थी।"

आगे-आगे शेरख़ाँ, पीछे उसका साला, फिर ससुर और सबसे पीछे कुटुंबी और पुलिस के आदमी थे। उधर आदमी बहुत थे, मगर इतनी बंदूकें न थीं। केवल तीन बंदूकें और गिने-चुने कारतूस थे। इधर से बंदूक़ों के फ़ैर होने लगे। उधर से भी गोली चली। बाग़ से आगे वे लोग दो फ़र्लांग ही भागे होंगे कि सबको घेर लिया, और गिरफ़्तार कर लिया। शेरख़ाँ के इशारे से पुलिस ने अली को सबसे पहले गिरफ़्तार किया। मालिक साहब आए, और माफ़ी माँगी। पुलिस के हवलदार ने उत्तर दिया—"मालिक साहब, आपने बड़ी ग़लती की। ये दोनो डाकू क़त्ल के मुक़दमे में हैं। एक लड़की को बड़ी बेदर्दी से पकड़कर जान से मार डाला है। उसके मरने का हाल जो कोई सुन लेता है, बग़ैर रोए नहीं रहता। ये वह डाकू नहीं, जिन्हें असली कहते हैं ; बदमाश हैं।"

शेरख़ाँ ने मालिक साहब को सलाम किया, और कहा—"हज़रत, या तो आप थाने में चलें या जुर्माना दें। मुझे अपने बड़ों की याद है, वे आपके दोस्त थे, और आपने उन्हीं की क़ब्रों पर भेड़ें ज़िबह कीं, आगे कुछ नहीं कहता हूँ।"

मालिक साहब कुछ न कहते हुए क़ब्रों की तरफ़ लौटे, सिर झुकाकर सिजदा किया, और सबके सामने दोनो हाथ उठाकर अपनी ग़लती की मुआफ़ी चाही। आख़िर बोले—"आप लोग जो सज़ा मेरे लिये देना चाहें, दें। मैं बड़ी ख़ुशी से पूरा करूँगा।"

शेरख़ाँ ने अपने ससुर की सलाह लेकर दो सौ रुपए का जुर्माना

किया, और कहा – "एक दिन हमारे क़बीले की दावत की जाय।" इसे मालिक साहब ने मञ्ज़ूर कर लिया। दावत के लिये दिन भी नियत हो गया। मालिक साहब ने कहा--"ये दोनो डाकू अब तक मुझे वज़ीरी बतलाते थे, इसलिये मैं धोखे में आ गया। ये दोनो न तो असली मुसलमान, न पठान और न मुग़ल ही हैं। आप लोग भी मेरे साथ कुफ़्र में शामिल थे, इसलिये दावत के रोज़ आप भी आवें, और सबका खाना-पीना हो।"

मालिक साहब अपने क़बीले के साथ रात को ही लौट गए। शेरख़ाँ और उसके साथी घर लौट आए। शेरखाँ ने अपनी बहादुरी की तारीफ़ अपनी बीबी से ही जाकर की। मजीदन ने सुन लिया, और बोली—"बहन, किससे बातें कर रही हो?"

नूरन ने इशारा करके बुला लिया, और पूछा – "अब सच बतलाओ, तुम कौन हो?'

मजीदन ने कहा—"बतलाऊँगी, अभी ठहरो। आप एक ख़त इसी हवलदार को लिखकर दे दें, और कह दें कि इन डाकुओं के साथ एक लड़की पकड़ी गई है, जो कुछ उसका नतीजा हो, वह देख लेना। मगर किसी से कहना नहीं। जब तक मैं यहाँ हूँ, मुझे आप पर एतबार और भरोसा है।"

हवलदार ने खत लेकर शेरखाँ से कहा—"आप ख़ुद क्यों न चलिए। आपके पाँच सौ रुपए इनाम के हैं, वह भी ले आना। वहाँ से फिर चिट्ठी आएगी, तब जाओगे। इस लड़की का हाल भी कह देना। दोनो काम बन जायँगे।"

शेरख़ाँ ने कहा—"ठीक है, मगर सबेरे चलेंगे। रात को ज़रा खाना-पीना रहेगा। आप लोग भी आराम करें, मामला फ़तेह है। दोनो डाकू मौजूद हैं, आपने गिरफ़्तार कर ही लिए हैं।"

नया षड्यंत्र

नसीबन की गिरफ़्तारी इसलामनगर-जैसे छोटे शहर के लिये उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये काफ़ी थी। शहर के आदमी सबेरे-शाम उसी का ज़िक्र करते रहते थे। यदि शहर की सड़कों से कोई पुलिस का आदमी गुज़रे, तो उसके जान-पहचान के लोग नसीबन के बारे में पूछते थे। सौदा ख़रीदनेवाला भी दूकानदार से सामान लेते समय नसीबन का ही ज़िक्र छेड़ देता था। पनवाड़ी, दरज़ी, सुनार, ख़ोंचावाला नसीबन का ही ज़िक्र करता था। कचहरी में पढ़े-लिखे आदमी नसीबन के बारे में जानने के लिये उत्सुक रहते थे। शहर के बड़े और धनाढ्य आदमी कोतवाल साहब और अन्य अधिकारियों से उसी के बारे में प्रश्न करते थे, लेकिन जितनी अफ़वाह थी, उतना किसी को भी पता न था।

अकस्मात् सेठ प्रभुदयाल और उनके बेटे भागमल की गिरफ़्तारी से शहर में सनसनी फैल गई। सेठजी दोपहर को अपनी बैठक में बैठे हुए थे कि पुलिस पहुँच गई, और उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। कोतवाल साहब ने इतना अच्छा किया कि सेठजी और उनके पुत्र को बाज़ार में बग़ैर हथकड़ी डाले ले गए। बहुधा पुलिस कुछ मिल जाने पर ऐसा कर लेती है, और मुजरिम को चाहे पीछे सज़ा हो जाय, वह अपना गौरव इसी में समझता है कि बग़ैर हथकड़ी डाले गिरफ़्तार हुआ। गिरफ़्तार होने के बाद दोनो कोतवाल साहब के साथ हो लिए।

सेठजी के घर की दशा विचित्र थी। खाने-पीने का सामान मौजूद था, लेकिन घर पर कोई और आदमी देख-भाल के लिये न था।

शहर के बिरादरी के आदमियों का संबंध सेठजी की कंजूसी के कारण पहले से ही टूट चुका था। सब लोग उनके पास आने से घबराते थे। केवल लाला दीनदयाल खास रिश्तेदारों में रह गए थे। उनका सलूक भी अच्छा न था। कोई पिता अपनी बेटी के साथ इतना बुरा सलूक देखते हुए किस तरह मित्र-भाव रख सकता है। लाला दीनदयाल पर अपनी बेटी का बड़ा प्रभाव था। रहीं घर में कला और उसकी सास। कला और सास की कभी न बनती थी। न-जाने क्यों लड़ती थीं। गिरफ़्तारी होने से सास ने कला से लड़ने में कोई कमी बाक़ी न छोड़ी। रोने के अलावा दिन-रात बुराई करती रहती थी। कला चुप सुनती रहती और अपने भाग्य को दोष देती थी। चाहे भागमल कैसा ही था, कला के लिये वही सब कुछ था। पतिव्रता नारी के लिये उसका मालिक उसकी आयु का गहना होता है। लोग अपनी स्त्रियों को पीटते हैं, नौकरानियों की तरह खाना देते हैं, मगर हिंदू-जाति का गौरव स्त्री-जाति ने अब तक इतना बनाए रक्खा है कि संसार में कोई सभ्य संस्था उसके मुक़ाबले में अभिमान नहीं कर सकती। कला को मालूम था कि उसकी शारीरिक अवस्था दिन-दिन गिरती जा रही है। थोड़ा-थोड़ा बुख़ार रहते पुराना पड़ गया है। खाना हज़म नहीं होता है। हाथ-पैरों में इड़कल होती है। गले के पाँसे सूखने लग गए हैं, मगर तेली के बैल की तरह रात-दिन जुती ही रहती थी। सेठजी को उसकी ज़रा भी परवा न थी, वह तो धन के भूखे थे।

लाला दीनदयाल को कचहरी पहुँचकर पता लगा कि भागमल की गिरफ़्तारी हो गई है, और आज ही, बयान लेने के बाद, लायलपुर भेज दिए जायँगे। अपने दफ़्तर से झट निबट डिप्टी साहब से मिले, और उनसे ज़मानत के लिये कहा। डिप्टी साहब के पास नक़ल आ चुकी थी। उसमें साफ़ लिखा था कि इन लोगों पर क़त्ल का जुर्म लगाया गया

है, ज़मानत मंज़ूर नहीं होगी। झक मारकर उलटे वापस आ गए। चलते वक्त सिपाही को कुछ दुबका-चोरी दे सेठजी से खड़े-खड़े बातें कीं, और कहा कि आप घबराइए नहीं, घर का प्रबंध मैं कर दूँगा। कला को अपने पास बुला लूँगा और दोनो वक्त आपके घर हो आया करूँगा। सेठजी ने उत्तर में केवल गिने-चुने शब्द कहे— "आप कला को हरगिज़ न ले जायँ। मैं अपने घर का प्रबंध कर आया हूँ।"

लाला दीनदयाल लौटकर अपने दफ़्तर में आ गए। उधर सेठजी और भागमल को मामूली काररवाई से निबटाकर लायलपुर भेज दिया। वहाँ पहुँचकर बाप-बेटों को एक कोठरी में बंद कर दिया गया, और नसीबन को दूसरी में। मुक़दमे की तारीख़ रख दी गई। सेठजी को यदि फ़िक्र थी, तो यही कि अगर हम दोनो को कुछ हो गया, तो घर का सत्यानास ही हो जायगा। कला सारा धन उड़ा देगी। पैसा-कौड़ी तो मेरे पास ही है, मगर मकान की चीज़ें एक भी न मिलेंगी। उनका दिल अगर काँपता था, तो इसीलिये। यों मुफ़्ती रोटी खाते ही थे। भागमल बेचारा चुप था। अपनी गिरफ़्तारी का कच्चा चिट्ठा दोनो में से किसी को नहीं मालूम था।

नियत की हुई तारीख़ को अदालत में मामला पेश हुआ। मुक़दमा सरकार की तरफ़ से था। नसीबन, सेठजी, भागमल मुजरिम क़रार दिए गए। पुलिस ने अपनी गवाही पक्की कर ली थी। पेशकार साहब ने नसीबन का बयान सुनाया कि एक दिन शीला रात को कुछ खाकर सो गई। मुझे मालूम था, मैंने सेठजी से जाकर कहा। रात के बारह बजे सेठजी अपने लड़के और कुछ आदमियों के साथ शीला के मकान पर आए। भागमल अंदर गया, और शीला को चारपाई-सहित अपने आदमियों से उठवाकर ले आया। बाद में शीला को एक कुएँ में, जो पटा हुआ पड़ा था, डाल दिया। उसके

ऊपर से मिट्टी भर दी गई। वीरेश्वर उसी रात को भागा था। सेठजी के कहने पर ही उसके ख़िलाफ़ मुक़दमा हुआ, और सज़ा हुई।

डिप्टी साहब ने नसीबन से पूछा—"तुम्हारा बयान सच और ठीक है? जो कुछ तुमने कहा था, वही पढ़कर सुनाया गया है?"

नसीबन ने गर्दन हिलाकर धीरे से कहा—"जी हुज़ूर।"

सरकारी वकील ने पूछा—"तुम्हारी तरफ़ से कोई वकील है?"

नसीबन—"मैं अकेली हूँ, मेरा कौन है? कोई मुसलमान भाई अगर सवाब के तौर पर, बग़ैर कौड़ी अल्लाह के नाम पर मदद कर दें, तो कर दें, वरना मेरे पास एक दमड़ी भी ख़र्च करने को नहीं है।"

नसीबन ने इस जुमले को ऐसी दर्द-भरी आवाज़ में कहा था कि वहीं खड़े हुए एक मुसलमान साहब ने फ़ौरन् एक अर्ज़ी लिखकर वकालतनामा लगा डिप्टी साहब को दे दी। ख़र्चा भी अपने ही पास से दिया।

नसीबन से डिप्टी साहब ने कहा—"तुम्हारे वकील मिर्ज़ाजी हैं। वही तुम्हारी पैरवी करेंगे।"

नसीबन ने बुर्क़े से बाहर हाथ निकालकर सलाम किया, और बोली—"ख़ुदा तुम्हें बरकत दे।"

सरकारी वकील ने सेठजी की तरफ़ मुख़ातिब होकर कहा—"तुम नसीबन के बयान के ख़िलाफ़ कहना चाहते हो या जो कुछ उसने कहा है, वही ठीक है?"

सेठजी ने कहा—"हुज़ूर, मुझे बहुत कुछ कहना है।"

सरकारी वकील—"कहिए।"

सेठजी—"हुज़ूर, मैं अब तक सरकार का ख़ैरख़्वाह रहा हूँ और नमकहलाल हूँ। लड़ाई के दिनों में रुपया भी बहुत ख़र्च किया।

गेहूँ हज़ारों मन भेज दिए। बड़े-बड़े अफ़सरों से मेरी मुलाक़ात है। एक दफ़ा कमिश्नर साहब..... ''

सरकारी वकील—"आप इस क़िस्से को छोड़िए, अपना बयान दीजिए।"

सेठजी—"ज़रा सुनिए। कमिश्नर साहब को मैंने बड़ी भारी दावत दी। शहर के कोतवाल मुझे जानते हैं। मेरा लेन-देन बड़े-बड़े आदमियों से है। अभी हाल का ज़िक्र है, कलेक्टर साहब बहादुर के कहने से मैंने चंदा दिया था, और... .."

सरकारी वकील डिप्टी साहब की तरफ़ मुख़ातिब होकर बोला—"हुज़ूर, इसका बयान तो इस तरह नहीं खतम होगा। कहिए, तो सवाल पूछता जाऊँ, और क़लम-बंद करता जाऊँ।"

डिप्टी साहब ने कहा—"यही ठीक होगा। ऐसे कूढ़मग़ज़ आते हैं कि अपना बयान भी ठीक-ठीक नहीं दिया जाता।"

सरकारी वकील ने सेठजी से कहा—"आप मेरे सवालों का जवाब दीजिए। जो कुछ मैं पूछूँ, उसी का ठीक-ठीक जवाब दीजिए। अंट-शंट बकने से आपका मामला बिगड़ जायगा। याद रखिए, आप पर कत्ल का मुक़दमा है। होश में आकर बोलना।"

"बहुत अच्छा, सरकार।" कहकर सेठजी हाथ जोड़कर खड़े हो गए।

सरकारी वकील—"आपका नाम सेठ प्रभुदयाल है?"

सेठजी—"जी हाँ, सरकार। मेरा बचपन का नाम और है। आप बड़े आदमी हैं, आप 'प्रभू' कहिए।"

अदालत में खड़े हुए आदमी हँस पड़े। मगर सेठजी ने सरकार की बड़ाई में अपने को छोटा ही समझना उचित समझा।

सरकारी वकील—"लाला दीनदयाल कौन हैं?"

सेठजी—"कचहरी में नौकर हैं।"

सरकारी वकील—"मैं यह पूछता हूँ कि तुम्हारे रिश्ते में कौन लगते हैं ?"

सेठजी—"उनकी लड़की की शादी मेरे लड़के के साथ हुई है।"

सरकारी वकील—"वह लड़की बड़ी है या छोटी ?"

सेठजी—"मैंने नहीं देखी। मेरे बेटे की बहू है।"

सरकारी वकील—"हम पूछते हैं कि लड़की लाला दीनदयाल की बड़ी बेटी है या छोटी ?"

सेठजी—"छोटी, सरकार।"

सरकारी वकील—"बड़ी लड़की को कभी आपने देखा था ?"

सेठजी—"हुज़ूर, हिंदुओं में कहीं ऐसा होता है ?"

सरकारी वकील—"शीला कौन थी ?"

सेठजी—(सोच-समझकर) "लाला दीनदयाल की बड़ी लड़की।"

सरकारी वकील—"शीला जिस दिन घर से ग़ायब हुई, आप कहाँ थे ?"

सेठजी—"अपने घर में।"

सरकारी वकील—"आपको शीला के ग़ायब होने की ख़बर कब लगी ?"

सेठजी—"शहर में हल्ला-ग़ुल्ला मचा हुआ था। सब कहते जा रहे थे कि पुलिस लाला दीनदयाल के यहाँ पड़ी हुई है। मैंने रास्ता चलते हुए आदमियों से पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया कि लाला दीनदयाल की लड़की ग़ायब हो गई है। मुझे तभी पता लगा था।"

सरकारी वकील—"तुम्हारी और लाला दीनदयाल की कभी पहले मुलाक़ात हो चुकी थी ?"

सेठजी—"जी नहीं। यों बिरादरी के आदमी हैं।"

सरकारी वकील—"शीला की शादी का ज़िक्र तुम्हारे लड़के से कभी आया ?"

सेठजी—"आया होगा, मुझे मालूम नहीं।"

सरकारी वकील—"रात को जब शीला ग़ायब हुई थी, तुम गली के कोने पर खड़े थे, वहाँ कितनी देर खड़ा रहना पड़ा ?"

सेठजी—"मैं वहाँ था ही नहीं, मुझे क्या मालूम ?"

सरकारी वकील—"तुमने अपने लड़के से क्या कहा था ? उसे मालूम था कि वह शीला को मारने के लिये जा रहा है ?"

सेठजी—"सब झूठ है। न मैंने अपने लड़के से कहा और न मैं गया। नसीबन बिलकुल ग़लत कहती है।"

सरकारी वकील—"नसीबन तुम्हारे खिलाफ़ क्यों कहती है ?"

सेठजी—"राम जाने। वह मुझसे एक दफ़ा मिलने आई थी। उसने कहा था कि 'वीरेश्वर जेल से लौटने पर लाला दीनदयाल के यहाँ आता-जाता है। तुम अपनी बहू कला का गौना कर लो।' मैंने कहा—'अच्छा।' क्योंकि मैं जानता था कि वीरेश्वर सज़ा पाए हुए है। अगर यह काम वीरेश्वर करता और उसे हम फँसवाते, तो मैं वीरेश्वर से कभी नहीं डरता। मेरी राय में वीरेश्वर ने ही किया है। नसीबन झूठ बोलती है। मैं इस मामले में और कुछ नहीं जानता।"

सरकारी वकील ने मिर्ज़ा साहब से कहा—"आप जिरह कर लीजिए। उसके बाद मैं भागमल को लूँगा।"

मिर्ज़ा साहब—"सरकार, सेठजी ने कहा है कि नसीबन के कहने से मैंने अपने लड़के का गौना किया। इससे साबित होता है कि सेठजी नसीबन का कहना मानते हैं। नसीबन ने शीला के ज़हर खाने की ख़बर दी। वह ऐसा कहती है, तो क्या सेठजी ने उसको ग़ायब करने की कोशिश नहीं की होगी ?"

सरकारी वकील—"मिर्ज़ा साहब, आप जिरह कीजिए, अभी मुक़दमा खत्म नहीं हुआ है।"

मिर्ज़ाजी—"सेठजी, बतलाइए, आप नसीबन का कहना मानते थे, या नहीं?"

सेठजी—"एक दफ़ा मौक़ा पड़ा था, मान लिया था।"

मिर्ज़ाजी—"आपसे जब नसीबन ने कहा था कि शीला ने ज़हर खा लिया है, तब क्यों नहीं कहना माना?"

सेठजी—"उसने मुझसे कहा ही नहीं।"

मिर्ज़ाजी—"अगर वह कहती, तो आप ज़रूर मान लेते?"

सेठजी—"कभी नहीं।"

मिर्ज़ाजी—"क्यों, उसमें आपका तो फ़ायदा था।"

सेठजी—"मेरा क्या फ़ायदा?"

मिर्ज़ाजी—"शीला के मर जाने पर आपको उनकी इकलौती लड़की मिली। लाला दीनदयाल मालदार आदमी हैं, उनके कोई औलाद नहीं। बस, सारा धन आपको मिलता।"

सेठजी—"मुझे क्यों मिलता। अगर वह देते, तो अपने दामाद को देते। मेरे पास क्या धन की कमी है?"

मिर्ज़ाजी ने सरकारी वकील से कह दिया कि आप अपना बयान लेना शुरू करें, जिरह हो गई। सरकारी वकील ने भागमल का बयान लिया, और भागमल ने, न-जाने क्या जी में आई, ख़ूब जवाब दिए। एक कारण यह भी था कि भागमल शहर के गुंडों में उठता-बैठता था, भँगेड़ी था, जुआ खेलने में पुलिस का भय नहीं रखता था। उसने सरकारी वकील को उत्तर दिया—"सरकार, जो पूछेंगे, उसी का जवाब दूँगा।"

सरकारी वकील—"लाला दीनदयाल तुम्हारे कौन हैं?"

भागमल—"ससुर।"

सरकारी वकील—"तुमने शीला को कभी पहले देखा था?"

भागमल—"जी हाँ।"

सरकारी वकील—"कहाँ ?"

भागमल—"स्कूल जाते समय, और जलसों में। वह लेक्चर सुनने जाया करती थी।"

सरकारी वकील—"शीला की शादी का ज़िक्र तुम्हारे साथ कभी आया ?"

भागमल—"कई दफ़ा।"

सरकारी वकील—"तुम चाहते थे, या नहीं ?"

भागमल—"मैं बहुत छोटा था।"

सरकारी वकील—"जिस दिन शीला ग़ायब हुई, तुम कहाँ थे ?"

भागमल—"घर पर रहा।"

सरकारी वकील—"रात को तुम्हारे पिता तुम्हें कहीं ले गए थे ?"

भागमल—"रात को बारह बजे मुझसे बज़ार चलने के लिये कहा, और मैं साथ हो लिया।"

सरकारी वकील—"वहाँ से क्या लाए ?"

भागमल—"मुझे एक गली के कोने पर खड़ा कर दिया, और कहा कि मैं रुपया ला रहा हूँ, तुम यहीं रहना। शायद गिनने में देर लगे, घबराना नहीं। बहुत देर बाद वह आए, पर रुपया-पैसा पास कुछ भी न था, घबरा रहे थे। मैंने पूछा, तो जवाब दिया कि आसामी ने रुपए नहीं दिए। हम दोनो वापस लौट आए।"

सरकारी वकील—"तुमने बाद में शीला के बारे में कुछ सुना ?"

भागमल—"नसीबन एक रोज़ घर आई, और सेठजी से बोली कि आपका काम तो बन गया, इनाम दिलवाइए।"

सरकारी वकील—"क्या तुम अपनी राय से कह सकते हो कि शीला को तुम्हारे पिता ने मारा ?"

भागमल—"मैं तो कह ही रहा हूँ। दुनिया भी जानती है। मगर नसीबन भी उसमें शामिल थी।"

भागमल का बयान सुनकर सेठजी का दम ऊपर का ऊपर और नीचे का नीचे रह गया। उनके हाथ-पैर काँपने लगे। बोलने से मजबूर थे। उनका चित्त व्याकुल हो गया, मानो अभी फाँसी का हुक्म दिया जायगा। सबसे अधिक इस बात की फ़िक्र थी कि सारा धन भागमल ले लेगा, और खा-चाटकर फूँक देगा। भागमल निडर कचहरी में खड़ा था। डिप्टी साहब उसकी तरफ़ देख रहे थे, और मन में सोच रहे थे कि अजब मामला है। सरकारी वकील ने मिर्ज़ाजी से कहा—"जनाब, जिरह कीजिए।" मिर्ज़ाजी बोले—"कुछ ज़रूरत नहीं, बयान काफ़ी है।" सरकारी वकील ने कहा—"मैं अब नसीबन के बयान पर जिरह करूँगा, और एक गवाह भी मौजूद है।"

डिप्टी साहब ने इजाज़त दे दी, और उनके हुक्म के मुताबिक़ नसीबन को कठघरा में लाकर खड़ा किया गया। सरकारी वकील ने कहा—"आप अपना बुर्क़ा उतार लें।"

नसीबन ने इनकार कर दिया। मिर्ज़ाजी ज़रा बिगड़ उठे, मगर सरकारी वकील ने कहा—"मुझे शिनाख्त करानी है। बग़ैर पर्दा खोले आदमी कैसे पहचान सकता है?"

नसीबन—"मैंने आज तक कभी किसी मर्द के सामने मुँह नहीं खोला।"

सरकारी वकील—"सेठजी से किस तरह बातें करती थी?"

नसीबन—"बुर्क़े में से।"

इतने में भागमल बोल उठा—"बुर्क़े में से नहीं, तुम तो जाली में से करती थीं। सरकार मैंने देखा है. इस तरह बैठ जाती थी, जैसे एक रंडी, और वहीं घुट-घुटकर बातें करती थी।"

मिर्ज़ाजी ने अदालत की कुर्सी की तरफ़ मुँह करके कहा—"सरकार, बीच में बोलने की इजाज़त न दी जाय।"

सरकारी वकील—"तुम्हें शिनाख्त के लिये मुँह दिखलाना पड़ेगा।"

नसीबन—"मैं नहीं दिखलाऊँगी।"

सरकारी वकील—"अच्छा, सिपाही, यहाँ आओ।"

सिपाही ने आगे आकर अदालत को फौजी सलाम किया, और खड़ा हो गया।

सरकारी वकील—"हुज़ूर, यह पुलिस का गवाह है। इसके बयान की बुनियाद पर नसीबन को अब तक गिरफ़्तार रक्खा है। नसीबन के दो लड़के हैं, जिनका काम डाका डालना है। एक अली, दूसरा शरीफ़, जो पहले पुलिस में था। मगर नसीबन इनकार करती है। एक फ़र्क़ है, अली और शरीफ़ की मा का नाम करीमन है।"

अदालत—"सिपाही को इजाज़त दी जाय कि वह पर्दे में मुँह देख ले।"

मिर्ज़ाजी—"हुज़ूर, यह कैसे हो सकता है?"

अदालत—"कुछ नहीं सुन सकते। हुक्म अदालत देती है, अगर आपको एतराज़ है, तो आप अर्ज़ी पर शिकायत करके लिख दीजिए, मैं दस्तखत कर दूँगा।"

सिपाही ने नसीबन का मुँह, आँख, नाक, कान, चेहरा, हाथ, सब अच्छी तरह देखे। उसने माथे का मस्सा भी देखा। देखने के बाद वह अपनी जगह आकर खड़ा हो गया।

सरकारी वकील—"तुमने नसीबन को देख लिया?"

सिपाही—"ख़ूब, सरकार।"

सरकारी वकील—"पहचानते हो?"

सिपाही—"जी, सरकार।"

सरकारी वकील—"कौन है?"

सिपाही—"सरकार, करीमन है, नसीबन नहीं। हज़ार आदमियों में पहचान सकता हूँ।"

सरकारी वकील—"ख़ास पहचान क्या है?"

सिपाही—"हुज़ूर, इनके माथे पर मस्सा है। मैं जब छोटा था, कई दफ़ा देखा था। रंग भी वैसा ही है। चेहरा-मोहरा सब करीमन का-सा है।"

सरकारी वकील—"तुमने ग़लती तो नहीं की?"

सिपाही—"सरकार, ग़लती की, तो यों सुन लो कि अगर यह करीमन न निकली, तो एक महीने की तनख़्वाह ज़ब्त। नसीबन तो इसने बनावटी नाम रक्खा है।"

सरकारी वकील ने सिपाही के बयान पर ज़्यादा ज़ोर दिया। मिर्ज़ाजी को जिरह करने का मौका मिला।

मिर्ज़ाजी—"नसीबन को तुमने पहले कब देखा था?"

सिपाही—"नसीबन को मैंने कभी नहीं देखा। करीमन को हज़ारों दफ़ा देखा था, और उसके बाद आज देखा है। इसमें भूल नहीं हो सकती।"

सुपरिंटेंडेंट साहब ने एक ख़त पढ़कर सुनाया, जिसमें लिखा था कि अली और शरीफ़ की गिरफ़्तारी हो गई है। मजीदन नाम की लड़की भी उनके साथ पकड़ी गई है। दूसरे, वीरेश्वर भी यहाँ नहीं है। ये गवाह और मुजरिम और हैं। मुक़दमा दूसरा है, जिसमें भवानी को पकड़कर ले गए थे। इसलिये अदालत कोई लंबी तारीख़ डाल दे, ताकि सब हाज़िर हो सकें। डिप्टी साहब ने मुक़द्दमा सेशन भेज दिया, और जज साहब के यहाँ तारीख़ नियत हो गई।

अंतिम विजय

जज साहब के कमरे के सामने सबेरे नौ बजे से ही आदमी जमा हो रहे थे। लाला दीनदयाल अपनी स्त्री-सहित पहले दिन की गाड़ी से छुट्टी लेकर आ गए थे। उन्हें भागमल से मिलना था। कला को अपने साथ लाना चाहते थे, किंतु उसकी सास के सामने एक भी न चली। बेचारी रोती रह गई। जिसके पति के ऊपर क़त्ल का मुक़दमा चल रहा हो, वह स्त्री आख़ीर वक़्त पर न मिले, कितना घोर अत्याचार है! लाला दीनदयाल ने भागमल और उसके पिता की तरफ़ से एक बैरि-स्टर भी कर लिया था। सेठजी की कजूसी पर बार-बार धिक्कारते थे। क्या धन इसीलिये जोड़ा जाता है?

जज साहब दस बजे कमरे में दाख़िल हुए। चपरासी ने आवाज़ लगाई। मुद्दई, मुद्दआलेह पहुँच गए। शहर के नए वकील मुक़दमे की कारवाई देखने के लिये पहले से ही बेंचों पर जा बैठे थे। लाला दीनदयाल और उनकी स्त्री भी एक कोने में खड़ी हो गई। सुपरिंटेंडेंट साहब सरकारी वकील के बराबर खड़े थे। अली भाई और शरीफ़ की आवाज़ लगी। साहब ने अपनी गारद भेज दी। उधर हवालात से दोनो भाई सिपाहियों के बीच में आ रहे थे। अली और शरीफ़ की सूरत-शक्ल मिलती थी। क़द लंबा, सिर पर घुँघराले बाल साफ़े से बाहर निकल रहे थे। गर्दन पहलवानों की तरह मोटी थी। क़मीज़ के ऊपर वास्कट पहने हुए थे। घरारेदार सिलवारें और पैरों में पंजाबी जूते थे। वास्कट की जेब में घड़ी की चेन लटक रही थी। दोनो की शक्ल भयानक थी। पुलिस ने हथकड़ी डाल रक्खी थी, और बंदूक़ों के पहरे थे। अदालत में आकर निडरपन से खड़े हो गए,

और कमरे के चारो तरफ़ देख, जज की तरफ़ टकटकी बाँधकर देखने लगे।

मुक़दमे की काररवाई होने से पहले शेरखाँ भी आ गया था, मगर अपने यार-दोस्तों से मिलने में देर लग गई। ज्यों ही उसकी आवाज़ लगी, वह भी आ पहुँचा, बंदूक़ साथ थी। उसके साथ उसका ससुर भी था, जिसके दाहनी ओर बुर्क़ा ओढ़े मजीदन खड़ी थी।

जज ने सरकारी वकील से कहा कि दोनो डाकुओं का बयान लें।

सरकारी वकील ने वीरेश्वर को बुलाकर सामने खड़ा किया, और उसका बयान लिया कि किस तरह वे दोनो डाकू उसके पास रात को ठहरे, और भवानी एवं उसके मरने का ज़िक्र किया। डाकू वीरेश्वर की ओर कड़ी निगाहों से देखने लगे। यदि उनका बस चलता, तो वहीं वीरेश्वर को जान से मार देते।

सुपरिंटेंडेंट साहब ने दोनो डाकुओं की पिछली वारदातें सुनाईं, और कहा—"बहुत-से जुर्मों के अलावा सबसे बड़ा जुर्म भवानी के क़त्ल का है, जिसका मुक़दमा अलग चलेगा। दूसरा जुर्म मजीदन के भगा ले जाने का है, जैसा कि सिपाही की शहादत से मालूम हुआ है, नसीबन इनकी मा है। सरकारी वकील सरकार की तरफ़ से नके बयान लें।"

सरकारी वकील—"तुम्हारा नाम अली और शरीफ़ है?"

दोनो डाकू—"जी, दुनिया जानती है।"

सरकारी वकील—"शरीफ़ पहले पुलिस में नौकर था? वहाँ से जुर्म में बर्ख़ास्त किया गया?"

शरीफ़ ने सिर हिलाकर कहा—"जी।"

सरकारी वकील—"तुम दोनो क़ुरानशरीफ़ पर हाथ रखकर कहो कि जो कुछ अदालत के सामने पूछा जाय, अपने ईमान से सच और ठीक कहोगे।"

दोनो ने क़ुरानशरीफ़ पर हाथ रखकर क़सम खाई।

सरकारी वकील—"सामने बैठी हुई यह औरत क्या तुम्हारी मा है?"

डाकू—"बग़ैर देखे कैसे बतला सकते हैं।"

सरकारी वकील—"तुम्हारी मा का क्या नाम है?"

डाकू—"करीमन।"

सरकारी वकील—"आजकल कहाँ रहती है?"

डाकू—"उसे मरे हुए बहुत दिन हुए। हम बच्चे थे, तभी उसका इंतक़ाल हो गया।"

सरकारी वकील—"जिस वक़्त तुम्हारी मा मरी थी, तुम वहीं थे, या कहीं बाहर?"

डाकू—"हमें याद नहीं।"

सरकारी वकील—"तुम्हारी यह मा नहीं हो सकती?"

डाकू—"मरे हुए आदमी अगर ज़िंदा हो जायँ, तो हो सकती है, या आपने उसकी रूह बुला ली हो, तो मुमकिन है।"

सरकारी वकील—(हँसकर) ख़ैर। तुम इक़बाल करते हो कि तुम्हारी मा ज़िंदा नहीं?

डाकू—"पहले ही कह चुके।"

सरकारी वकील ने जज साहब की इजाज़त लेकर सिपाही को शिनाख़्त के लिये तलब किया। सिपाही ने सलाम कर सरकारी वकील की तरफ मुँह कर लिया।

सरकारी वकील—"तुम जानते हो, ये दोनो कौन हैं?"

सिपाही—"अली और शरीफ़।"

सरकारी वकील—"अली कौन-सा है, और शरीफ़ कौन है?"

सिपाही ने आगे बढ़कर उँगली के इशारे से बतला दिया, जिस पर डाकुओं का चेहरा ग़ुस्से से लाल हो गया, और कुछ कहना ही चाहते थे कि सरदारजी ने घुड़क दिया।

सरकारी वकील—"तुम इन्हें कब से जानते हो?"

सिपाही—"बचपन के हम सब साथ पढ़े हुए हैं।"

सरकारी वकील—"शरीफ़ तुम्हारे साथ पुलिस में था ?"

सिपाही—"जी, हुज़ूर।"

सरकारी वकील—"इनकी मा को तुमने देखा है ?"

सिपाही—"जी, सरकार। करीमन नाम है, और यहीं अदालत में बैठी है।"

सरकारी वकील—"डाकू कहते हैं कि उनकी मा, जब वे बच्चे थे, मर गई थी। क्या इनके बाप की दूसरी शादी हुई थी ?"

सिपाही—"नहीं। करीमन ही इनकी मा है। गाँव का हर आदमी जानता है कि जब तक शरीफ़ पुलिस में था, वह अपनी मा से मिलने जाया करता था। एक दफ़ा उसने अपनी मा को मनीऑर्डर भी भेजा था। उसकी रसीद डाकख़ाने से मिल सकती है।"

सरकारी वकील—"इन दोनो भाइयों में से किसी की शादी हुई थी, या नहीं ?"

सिपाही—"नहीं।"

सरकारी वकील—"करीमन इनकी मा है, तुम कहते हो। क्या वह अपने बेटों को पहचान सकती है ?"

सिपाही—"ज़रूर पहचानेगी, अगर मक्कारी न की।"

सरकारी वकील करीमन की तरफ़ मुख़ातिब होकर बोला—"तुम अपना मुँह इन दोनो बेटों को दिखला दो।"

करीमन—"मैं नहीं दिखलाऊँगी।"

डाकू—"आप एक मुसलमानी की इस तरह इज़्ज़त लेना चाहते हैं। वह कभी नहीं मुँह खोलेगी।"

सरदारजी ने आँख के इशारे से पीछे खड़े हुए हवलदार से दो-चार हूले मारने को कहा, और ज्यों ही डाकुओं के पड़े, अक़्ल ठिकाने आ गई।

सरकारी वकील—"तुम्हें अपनी शक्ल दिखाने में क्या उज्र है ? तुम्हारे बेटे तो हैं ही।"

करीमन—"मेरे बेटे कहाँ से होते, मेरा तो ब्याह ही नहीं हुआ।"

जज साहब ने वकील से कहा—"यह शहादत नहीं चलेगी। ज़िद करने से क्या फ़ायदा। आप अब आगे चलिए।"

सरकारी वकील—"तुमने मजीदन नाम की औरत को कहाँ से पकड़ा ?"

डाकू—"जहाँ मौक़ा मिला।"

सरकारी वकील—"उस जगह का नाम क्या है ?"

शरीफ़—"मेरी ब्याहता औरत है।"

सरकारी वकील—"कौन-सी जगह की रहनेवाली है ?"

शरीफ़—"मुझे याद नहीं, उस रास्ते का क्या नाम है।"

सरकारी वकील—"तुम्हारी शादी कहाँ से हुई ?"

अली—"सरकार, यह बच्चा था। एक दिन मैं जा रहा था। रास्ते में, मुसाफ़िरत में, एक औरत से मुलाक़ात हुई। उसकी यह बेटी थी। मैंने पचास रुपए में ख़रीद लिया, और इसका निकाह पढ़ा लिया गया।"

सरकारी वकील—"शरीफ़, जब तुम नौकर थे, तुम्हारी बीबी गाँव में अकेली रहती थी ?"

शरीफ़—"मेरा भाई अली था।"

सरकारी वकील—"तुम्हें और कुछ कहना है ?"

डाकुओं ने अपने हाथों की हथकड़ियों को झटका दिया, और बड़े रोब से अली ने कहा—"वह शख़्स कौन है, जिसने यह कहा था कि रात को भवानी और मजीदन का ज़िक्र किया था ?"

जज साहब ने मिसिल अलग रखते हुए पूछा—"क्या चाहते हो ?"

डाकू—"हम देखना चाहते हैं।"

जज की इजाज़त से वीरेश्वर सामने आकर खड़ा हो गया, और उनकी तरफ़ निगाह न मिला, सरकारी वकील की तरफ़ देखता रहा।

डाकू—"आप मस्ताशाह हैं?"

वीरेश्वर—"जनाबवाला।"

डाकू—"तुम्हें शरम नहीं आती कि एक पाक नाम पर इस तरह धब्बा लगाते हो?"

वीरेश्वर—"तुम्हारे तो बुज़ुर्ग ही ऐसा करते आए हैं।"

डाकू—"क्या कहा?"

जज साहब ने दोनो को चुप कर दिया, और डाकुओं से कहा कि लड़ने में कोई फ़ायदा नहीं। तुम्हें जो कुछ पूछना हो, पूछो। इधर हवलदार ने भी मरम्मत कर दी। डाकू चुप हो गए।

सरकारी वकील—(डाकुओं की तरफ़)"कहिए, आप पूछ चुके?"

डाकू ख़ामोश खड़े रहे, और कोई जवाब न दिया।

सरकारी वकील ने जज साहब की इजाज़त लेकर मजीदन के बयान लेने की तैयारी की।

सरकारी वकील—"मजीदन, तुम इन डाकुओं के बयान से शरीफ़ की बीवी हो। अगर यह ठीक है, तो कहो।"

मजीदन—"मुझे इनकार है।"

सरकारी वकील—"क्या तुम अपना बयान दोगी?"

मजीदन—"नहीं।"

सरकारी वकील—"क्यों?"

मजीदन—"मैं अपना बयान तब दूँगी, जब या तो अपने बाप के पास खड़ी कर दी जाऊँ, या (शेरख़ाँ की तरफ़ इशारा करके) इनके पास खड़ी कर दी जाऊँ।"

सरकारी वकील—"ऐसा क्यों चाहती हो?"

मजीदन—"ज़रूरी है।"

सरकारी वकील—"वजह ?"

मजीदन—"क्या तुम समझते हो कि मैं अपने बाप से अलग खड़ी होकर सुरक्षित हूँ।"

सरकारी वकील—"क्यों नहीं हो। पुलिस खड़ी हुई है।"

मजीदन—"ओह, नहीं। मुझे इन डाकुओं का जब खयाल आता है, कलेजा काँप उठता है। इनका ज़ुल्म बहादुर-से-बहादुर आदमी को कँपा सकता है।"

सरकारी वकील—"तुम घबराओ नहीं, अदालत में तुम्हारा बाल बाँका नहीं हो सकता।"

मजीदन—"और अदालत से बाहर ?"

जज साहब मजीदन की मानसिक दशा समझ गए। उन्होंने जान लिया कि बेचारी इन डाकुओं के अत्याचार से इतनी डरी हुई है कि बोलने की ताक़त तक नहीं रही। उन्होंने मजीदन से बड़े हमदर्दी के लफ़्ज़ों में कहा—"आप घबराएँ नहीं, अदालत या अदालत से बाहर कहीं भी कोई आपका कुछ नहीं कर सकता। दूसरे, तुम्हारे बाप तुम्हारे पीछे खड़े हुए हैं।" शेरखाँ की तरफ़ जज साहब ने इशारा करते हुए कहा कि आप भी पास खड़े हो जायँ। शेरखाँ ने जवाब दिया—"हुज़ूर, अकेला ही काफ़ी हूँ, आप इतमीनान रक्खें।" जज साहब ने सरदारजी से कहा, ज़रा डाकुओं का खयाल रखना।

सरदारजी—"हुज़ूर, आप मेरी क़ौम को जानते ही हैं। नलवा का नाम सुना ही होगा। उसके नाम से सरहद का बच्चा-बच्चा काँपता है। आपसे ज्यादा नहीं कहूँगा। मेरे सामने इनकी क्या मजाल है। 'जहाँ एक सिख, वहाँ सवा लाख सिख' गुरु का कथन है।"

जज साहब ने हँसते हुए सरदारजी की बात पर पूरा विश्वास किया। उधर मजीदन ने भी कह दिया कि मैं तैयार हूँ।

शरीफ़ इन बातों को सुनते ही आग-बबूला हो गया। उसने जज से

कहा—"आप मेरी बीवी को अदालत में नहीं बुलवा सकते। एक मुसलमानों की इज़्ज़त इस तरह लेना चाहते हैं। मैं दरख़्वास्त देना चाहता हूँ कि उसे अदालत में बोलने की इजाज़त न दी जाय। लोगों के बहकाने से मेरे ख़िलाफ़ करने को तैयार हो गई है।" शरीफ़ ने वहाँ बैठे हुए मुसलमानों की तरफ़ देखा, और आँखों-ही-आँखों में उनसे दरख़्वास्त की कि एक अर्ज़ी लिखकर दे दें। एक वकील उठे, और उन्होंने क़ानून की रू से अर्ज़ी दी। जज साहब ने इनकार कर दिया, और कहा—"पहले आप अपना वकालतनामा दाख़िल कीजिए।" वकील अपना-सा मुँह लेकर चुप बैठ रहे। सरकारी वकील ने अपनी काररवाई शुरू कर दी।

सरकारी वकील—"तुम क़सम खाकर सच कहने के लिये तैयार हो?"

मजीदन—"जी, हाँ।"

सरकारी वकील—"तुम्हारा नाम मजीदन है?"

मजीदन—"जी हाँ, आजकल मजीदन ही है।"

सरकारी वकील—"पहले क्या था?"

मजीदन—"अभी मैं बतलाने के लिये तैयार नहीं। आप और कुछ सवाल कीजिए।"

सरकारी वकील—"तुम, जैसा कि अली कहता है, शरीफ़ की ब्याहता बीवी हो?"

मजीदन—"नहीं, मेरी कभी शादी नहीं हुई।"

सरकारी वकील—"तुम किस तरह इनके पास आईं?"

मजीदन—"मुझे कुछ मालूम नहीं। मैं नहीं कह सकती कि किस तरह मुझे लाए।"

सरकारी वकील—"अपनी राज़ी से गईं?"

मजीदन—"राज़ी से जाती, तो वहाँ से भागकर क्यों आती।"

सरकारी वकील—"तुम वहाँ से भागीं क्यों?"

मजीदन—"जान बचाने के लिये। मुझे मरना अच्छा लगा, बजाय इसके कि इनके पास रहती।"

सरकारी वकील—"कितने दिन तुम इनके साथ रहीं?"

मजीदन—"क़रीब दो साल।"

सरकारी वकील—"तुम्हारे साथ इनका बर्ताव कैसा रहा? तुम कहती हो कि शादी नहीं हुई?"

मजीदन ने एक ठंडी साँस भरी, और कुछ देर तक बिलकुल चुप रही। उसके पैर काँपने लगे, और वह नीचे गिरने को ही थी कि उसके बाप ने सहारा देकर रोक लिया, और शेरख़ाँ से पानी मँगवाकर पिलाया।

मजीदन होश में आई, और बोली—"इनका बर्ताव एक वहशी से भी बुरा था।"

सरकारी वकील—"तुम्हारी इज़्ज़त और अस्मत का खयाल रक्खा?"

मजीदन—"यह सवाल न पूछिए। मेरी इज़्ज़त कहाँ। इन्होंने तो भवानी की इज़्ज़त मरने के बाद भी न छोड़ी। बेचारी तड़प-तड़पकर मर गई। ऐसा ज़ालिम कोई नहीं हो सकता।"

सरकारी वकील—"भवानी कौन थी?"

मजीदन—"यह वही लड़की थी, जिसे एक रात को इन डाकुओं ने ग़ायब की थी। उस बेचारी ने रास्ते में ही जान खो दी।"

अली ने क्रोध में आकर कहा—"ज़बान सँभालकर बोलो।"

मजीदन ने कड़े शब्दों में उत्तर दिया—"मैं अब तुम्हारे चगुल में नहीं हूँ। मैं तुम्हें बतलाती हूँ कि तुम्हारी ज़िंदगी और मौत मेरे हाथ में है।"

सरकारी वकील—"अच्छा, तुम नसीबन या करीमन के बारे में कुछ जानती हो?"

मजीदन—"सबसे ज़्यादा।"

सरकारी वकील—"वह कौन है?"

मजीदन—"अली और शरीफ़ की मा।"

सरकारी वकील—"कैसे जानती हो?"

मजीदन—"शरीफ़ ने कई दफ़ा मुझसे ज़िक्र किया था, और मैं दावे से कह सकती हूँ कि नसीबन—चाहे इसका पहला नाम करीमन ही हो—इन्हीं की मा है।"

मजीदन की बात सुनकर नसीबन खड़ी-खड़ी काँप रही थी। उसे इतना पसीना आ रहा था कि बुर्क़ा तक माथे पर भीग गया था।

सरकारी वकील ने मजीदन से कहा—"अब तुम हमें पूरा पता दो कि तुम कौन हो?"

मजीदन रुकी, लेकिन सँभलकर बोली—"क्या मैं जज साहब से प्रार्थना करूँ कि मेरा भेद खुलने पर वह मेरा कुछ प्रबंध करेंगे? मैं किसी हालत में इन डाकुओं के साथ नहीं रहना चाहती।"

इसका जवाब पठान ने दिया, और कहा—"बेटी, मैं ज़िंदा हूँ।"

शेखों ने भी मूछों पर ताव देकर कहा—"तुम्हारी बहन ज़िंदा है, तुम फ़िक्र न करो।"

मजीदन कुछ देर सहमी-सी खड़ी रही। सारी अदालत ख़ामोश थी। सब लोग मजीदन की तरफ़ देख रहे थे कि क्या भेद खुले।

मजीदन ने एक फुरेरी-सी ली, और अपना बुर्क़ा उतारकर दूर फेंक दिया। अदालत के सारे आदमी उसकी तरफ़ भौचक्के-से देखने लगे। लाला दीनदयाल ने कोने से कहा—"बेटी शीला!" शीला ने आँख भरकर देखा, और नीची गरदन कर ज़मीन की तरफ़ देखने लगी। उसकी मा भी दोनो हाथ आगे बढ़ाने चली, लेकिन लाला दीनदयाल ने रोक दिया। शीला मूर्ति के समान चुप खड़ी थी। डाकुओं की कड़ी निगाह उसी तरफ़ लगी हुई थी। नसीबन के पैरों

तले की ज़मीन निकल गई थी। उसका सारा शरीर काँप रहा था। वीरेश्वर सामने खड़ा हुआ उसकी तरफ़ टकटकी बाँधे देख रहा था। सारा दृश्य एक लीला के समान था।

शीला ने ऊपर देखा, और धीरे से जज साहब की तरफ़ मुँह करके कहा—"मैं ही अभागिनी शीला हूँ, जिसे अब तक आप मजीदन कहकर पुकार रहे थे। ये दोनो डाकू मुझे मेरे घर से आधी रात को ले गए थे। नसीबन, दुष्ट नसीबन, तुझे नरक मिलेगा।" शीला ने अपना हाथ बढ़ाकर उसकी तरफ़ इशारा किया, यही कुटनी भेदी है। भवानी भी इसी की शरारत से गई। न-जाने ऐसी मुसलमानी कुटनियाँ हिंदू-पड़ोस में कितनी बसी हुई हैं, जिनका पेशा हम-जैसी अबलाओं को सोते से उठा ले जाने का है। बस, इतना मैं अदालत से कहना चाहती हूँ। अब जज साहब, आप बतलाइए कि मैं कहाँ हूँ?"

अभी जज साहब कुछ कह न पाए थे कि वीरेश्वर बोल उठा—"तुम मेरे हृदय के बीच हो।"

शीला ने सुनकर गरदन झुका ली, और उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। लज्जा हिंदू-देवियों का गहना है।

"वीरेश्वर बाबू! क्या भारतवर्ष में इतना परिवर्तन दो साल में ही हो गया?' शीला कहते-कहते रुक गई।

वीरेश्वर ने उत्तर दिया—"भारतवर्ष की दुर्दशा, विशेषकर हिंदू-जाति की, इससे अधिक नहीं हो सकती। तुम्हें मालूम नहीं कि जब मुसलमानों के आलिम फ़ाज़िल ऐसी-ऐसी संस्थाएँ बनाएँ, जिनसे स्त्री-जाति का अपमान हो, तो क्या वीरेश्वर-जैसे भारतीय सपूत उत्पन्न नहीं होंगे? मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ कि तुमने एक हिंदू-स्त्री होते हुए अत्याचारी मुसलमानों का साक्षात् परिचय दिया। हिंदू युवक अब सोते नहीं रहेंगे।"

जज साहब ने यह वार्तालाप रोक दिया। बयान थोड़े-

से और लिए। फ़ैसला सुना दिया गया। नसीबन को काला-पानी, डाकुओं को जन्म-क़ैद और सेठजी को छोड़ दिया। भागमल के झूठ बोलने पर उसे एक साल की सजा भुगतनी पड़ी। शेरख़ाँ ने पाँच सौ रुपए इनाम लिए, और चलते वक़्त वीरेश्वर से 'आओ भाई, गले मिल लें' कह बग़लगीर होकर रुख़सत हुआ। पठान को शीला ने हाथ जोड़े, और लाला दीनदयाल ने उससे ऐसे हाथ मिलाया, मानो आपस में पहले जन्म के भाई-भाई हों। वीरेश्वर ख़ुशी के मारे फूला न समाता था। उसके माथे से कलंक का टीका मिट गया—जन्म-भर के लिये मिट गया।

सब लोग घर रवाना हो गए। मुसलमानों की भीड़, जो कचहरी के सामने लगी हुई कह रही थी कि अब इस हिंदू-लड़की को कौन लेगा, यह दृश्य देखकर चकित रह गई। सबके होठों पर ताले लग गए। वीरेश्वर को जाते देख एक मुसलमान ने नुक़्ता कस दिया—"अब हिंदू भी भंगी हो गए।" वीरेश्वर ने वीरता-पूर्वक कहा—"यदि मुसलमानी लेने से एक ऊँची जाति भंगी हो जाती है, तो मुसलमान ख़ुद क्या हुए?" साथ ही यह भी कहता गया कि "वीर हिंदुओं के लिये मुसलमान क़ौम कुछ नहीं है।"

घर पहुँचने पर लाला दीनदयाल को मालूम हुआ कि कला भागमल की क़ैद की ख़बर सुनकर बेहोश पड़ी है, कमज़ोर पहले से ही थी। शीला, लाला दीनदयाल और वीरेश्वर उसे देखने गए। डॉक्टर के आते-आते उसने संसार से छुटकारा पाया। मरते समय कह गई—"अबला स्त्री मनुष्य से उसी समय विजय पा सकती है, जब कि उसे स्वतंत्रता मिले। मनुष्य स्वार्थी है, अतः स्वतंत्रता स्त्रियों को स्वयं ही लेनी पड़ेगी।"

लाला दीनदयाल और उनकी स्त्री को अत्यंत शोक हुआ। पर उधर शीला के मिलने की ख़ुशी भी बेहद थी। रोते हुए शीला को

मा बोली—"ईश्वर, तेरी कृपा है। एक बेटी गई, उसके बदले में दूसरी भेज दी। धन्य है भगवान्!" लाला दीनदयाल ने भी वीरेश्वर को गले लगाकर कहा—"दामाद मिले तो ऐसा। संसार में भागमल,जैसे दामाद होना घोर दुर्भाग्य है।" उधर शीला की माता खड़ी हुई मिल रही थी। शीला की माता ने कहा—"शीला, मैं तेरा विवाह आज ही देखूँगी।" रात को आर्य-समाज में वैदिक रीति से विवाह हुआ। पढ़ी-लिखी जनता से समाज-मंदिर भरा हुआ था।

शीला अपने पति का, जिसे वह वीरेश्वर नहीं कहना चाहती थी, हाथ पकड़कर आगे बढ़ी, और प्रेम-भरे शब्दो में बोली—"क्या आप-जैसे वीर भारत में और हैं?" वीर-शब्द का उच्चारण करते ही शीला ने नीची निगाह कर ली, क्योंकि वीर उसके पति के नाम में आता था।

वीरेश्वर ने उत्तर दिया—"बहुत-से प्रिये।"